महाभारत

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

संस्कृत मूल

हिन्दी अनुवाद

वर्ष ३

गीताप्रेस, गोरखपुर

संख्या १०

श्रीहरिः

महाभारतके पाठकोंकी सेवामें नम्र निवेदन

इस दसवीं संख्यामें 'महाभारतकी नामानुक्रमणिका संक्षिप्त परिचयसहित' के साथ-साथ कुछ लेख भी दिये जा रहे हैं; इससे महाभारतके महत्त्वपूर्ण विषयों तथा पात्रोंका पाठकोंको विशेष परिचय प्राप्त होगा तथा 'अनुक्रमणिका' में रस प्राप्त न करनेवाले पाठकोंको संतोष भी रहेगा। आगामी दो अङ्कों (११ वीं तथा १२ वीं संख्या) में भी इसी प्रकार 'अनुक्रमणिका' तथा 'लेख' दोनों ही रहेंगे। दोनोंकी फार्मसंख्या तथा पृष्ठसंख्या अलग-अलग रहेगी। आशा है इससे पाठकोंको प्रसन्नता ही होगी। —सम्पादक

विषय-सूची

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें २०)
विदेशमें २६॥)
(४० शिलिंग)

सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

एक प्रतिका
भारतमें २)
विदेशमें २॥)
(४ शिलिंग)
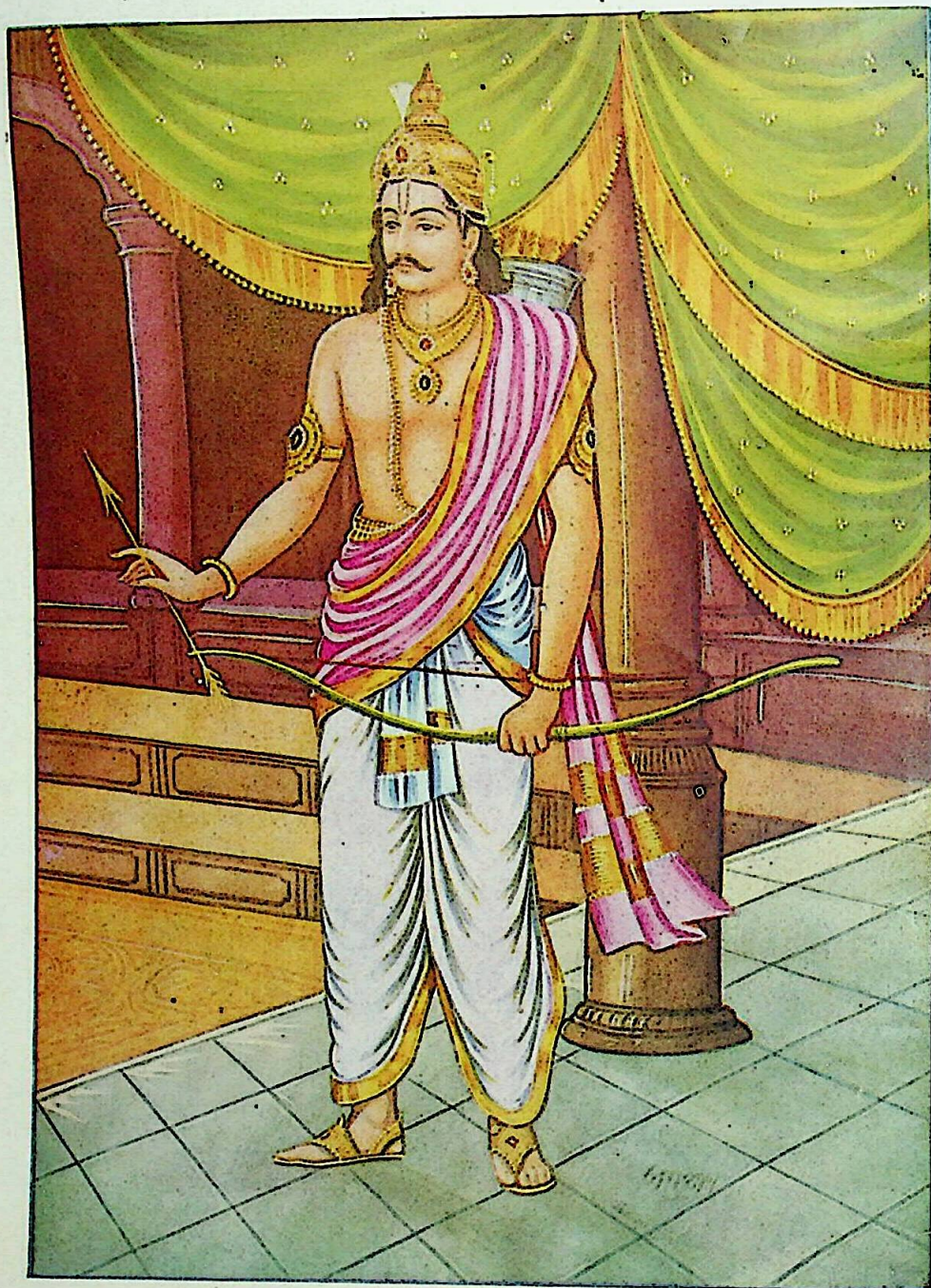
धर्मराज युधिष्ठिर

महाभारतके प्रधान पात्र

[महाभारतके सोलह प्रधान पात्रोंका संक्षिप्त परिचय इस लेखमें दिया गया है। भीष्मपितामह, धर्मराज युधिष्ठिर, कृष्णसखा अर्जुन, भगवान् वेदव्यास, महात्मा विदुर, दिव्यचक्षु संजय, पतिभक्ता गान्धारी, कुन्तीदेवी, देवी द्रौपदीका परिचय श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाका लिखा हुआ है और शेष सात पात्रोंका परिचय पं० श्रीगौरीशंकरजी द्विवेदी महोदयने लिखा है। —सम्पादक]

भीष्मपितामह

महात्मा भीष्म प्रसिद्ध कुरुवंशी महाराज शान्तनुके पुत्र थे। ये गङ्गादेवीसे उत्पन्न हुए थे। वसु नामक देवताओंमें 'द्यौ' नामके नवम वसु ही महर्षि वशिष्ठके शापसे भीष्मके रूपमें अवतीर्ण हुए थे। इन्होंने कुमारावस्थामें ही साङ्गोपाङ्ग वेदोंका अध्ययन तथा अस्त्रोंका अभ्यास कर लिया था। अस्त्रोंका अभ्यास करते हुए इन्होंने एक बार अपने बाणोंके प्रभावसे गङ्गाकी धाराको रोक ही दिया था। इन्हें बचपनमें लोग देवव्रत कहते थे।

एक दिन राजर्षि शान्तनु वनमें विचर रहे थे। उनकी दृष्टि एक सुन्दरी कैवर्तराजकी कन्यापर पड़ी, जिसका नाम सत्यवती था और उसपर वे आसक्त हो गये। उन्होंने उससे विवाह करना चाहा। सत्यवती थी तो एक राजकन्या, परंतु वह कैवर्तराजके घर पली थी। उसके पिता कैवर्तराजने उसके विवाहके लिये राजाके सामने यह शर्त रक्खी कि उसके गर्भसे जो पुत्र हो, वही राजका अधिकारी हो। राजाने उसकी यह शर्त मंजूर नहीं की; परंतु वे उस कन्याको भी न भुला सके। वे उसीको पानेकी चिन्तामें उदास रहने लगे। देवव्रतको जब उनकी उदासीका कारण ज्ञात हुआ तो वे स्वयं कैवर्तराजके पास गये और उससे अपने पिताके लिये कन्याकी याचना की। उन्होंने उसकी शर्त मंजूर करते हुए सबके सामने यह प्रतिज्ञा की कि 'इसके गर्भसे जो पुत्र होगा, वही हमारा राजा होगा।' परन्तु कैवर्तराजको इतनेपर भी संतोष नहीं हुआ। उसने सोचा कि देवव्रतका वचन तो कभी अन्यथा नहीं होनेका, परंतु इनका पुत्र राज्यका अधिकारी हो सकता है। बुद्धिमान् देवव्रत उसका अभिप्राय समझ गये। उन्होंने उसी समय यह दूसरी कठिन प्रतिज्ञा की कि 'मैं आजीवन ब्रह्मचर्यका पालन करूँगा।' कुमार देवव्रतकी इस भीषण-प्रतिज्ञाको सुनकर देवताओंने पुष्पवर्षा की और तभीसे इन्हें लोग 'भीष्म' कहने लगे। भीष्मने सत्यवतीको ले जाकर अपने पिताको सौंप दिया। भीष्मका यह दुष्कर कार्य सुनकर राजा शान्तनु बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपने पुत्रको इच्छा-मृत्युका वरदान दिया। इस प्रकार भीष्मने जीवनके आरम्भमें ही पिताकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये संसारके सामने अलौकिक त्यागका आदर्श स्थापित किया। जिस राज्यके लिये उनकी दो ही पीढ़ी बाद उन्हींके बेटों-पोतोंमें तथा उन्हींकी मौजूदगीमें भीषण संहारकारी महायुद्ध हुआ, उसी राज्यको उन्होंने बात-की-बातमें अपने पिताकी एक मामूली-सी इच्छापर न्यौछावर कर दिया। जिन कामिनी-काञ्चनके लिये संसारके इतिहासमें न जाने कितनी बार खून-खराबा हुआ है और राज्य-के-राज्य ध्वंस हो गये हैं, उनका सदाके लिये तृणवत् परित्याग कर उन्होंने एक विरक्त महात्माका-सा आचरण किया। धन्य पितृभक्ति!

सत्यवतीके गर्भसे महाराज शान्तनुके दो पुत्र हुए। बड़ेका नाम था चित्राङ्गद और छोटेका विचित्रवीर्य। अभी चित्राङ्गद जवान नहीं हो पाये थे कि राजा शान्तनु इस लोकसे चल बसे। चित्राङ्गद राजा हुए, परंतु वे कुछ ही दिन बाद गन्धर्वोंके साथ युद्धमें मारे गये। विचित्रवीर्य भी अभी बालक ही थे, अतः वे भीष्मकी देख-रेखमें राज्यका शासन करने लगे। कुछ दिन बाद भीष्मको विचित्रवीर्यके विवाहकी चिन्ता हुई। उन्हीं दिनों काशीनरेशकी तीन कन्याओंका स्वयंवर होने जा रहा था। भीष्म अकेले ही रथपर सवार हो काशी पहुँचे। इन्होंने अपने भाईके लिये बलपूर्वक कन्याओंको हरकर अपने रथपर बिठा लिया और उन्हें हस्तिनापुर ले चले। इसपर स्वयंवरके लिये एकत्र हुए सभी राजालोग इनपर टूट पड़े, परंतु उनकी एक भी न चली। इन्होंने अकेले ही सबको परास्त कर दिया और कन्याओंको लाकर विचित्रवीर्यके सुपुर्द कर दिया। उस समय संसारको इनके अलौकिक पराक्रम तथा अस्त्रकौशलका प्रथम बार परिचय मिला।

भीष्म काशिराजकी तीन कन्याओंको हरकर ले आये थे। उनमें सबसे बड़ी कन्या अम्बा मन-ही-मन राजा शाल्वको वर चुकी थी। भीष्मको जब यह मालूम हुआ, तो उन्होंने अम्बाको वहाँसे विदा कर दिया और शेष दो कन्याओंका विचित्रवीर्यसे विवाह कर दिया। परंतु विचित्रवीर्य अधिक दिन जीवित न रहे। विवाहके कुछ ही वर्ष बाद वे क्षयरोगके शिकार हो इस संसारसे चल बसे। उनके कोई संतान न थी। फलतः कुरुवंशके उच्छेदका प्रसङ्ग उपस्थित हो गया। भीष्म चाहते तो वे आसानीसे राज्यपर अधिकार कर सकते थे। प्रजा उनके अनुकूल थी ही। वंशरक्षाके लिये विवाह करनेमें भी अब उनके सामने कोई अड़चन नहीं थी। परन्तु बड़े-से-बड़ा प्रलोभन तथा आवश्यकता भी भीष्मको अपने

वचनसे नहीं डिगा सकती थी। सत्यवतीके पितासे की हुई प्रतिज्ञाको दुहराते हुए एक समय उन्होंने कहा था—'मैं त्रिलोकीका राज्य, ब्रह्माका पद और इन दोनोंसे अधिक मोक्षका भी परित्याग कर सकता हूँ, पर सत्यका त्याग नहीं कर सकता। पाँचों भूत अपने-अपने गुणोंको त्याग दें, चन्द्रमा शीतलता छोड़ दे; और तो क्या, स्वयं धर्मराज भले ही अपना धर्म छोड़ दें; परंतु मैं अपनी सत्यप्रतिज्ञा छोड़नेका विचार भी नहीं कर सकता।' प्रतिज्ञाका पालन हो तो ऐसा हो।

इधर, अम्बाको शाल्वने स्वीकार नहीं किया। वह न इधरकी रही, न उधरकी। लज्जाके मारे वह पिताके घर भी न जा सकी। अपनी इस दुर्दशाका कारण भीष्मको समझकर वह उन्हें मन-ही-मन कोसने लगी और उनसे बदला लेनेका उपाय सोचने लगी। अपने नाना राजर्षि होत्रवाहनकी सलाहसे वह जमदग्निनन्दन परशुरामकी शरणमें गयी और उनसे अपने दुःखका कारण निवेदन किया। भीष्मने परशुरामसे अस्त्रविद्या सीखी थी। उन्होंने भीष्मको कुरुक्षेत्रमें बुलाकर कहा कि 'इस कन्याका बलपूर्वक स्पर्श करके तुमने इसे दूषित कर दिया है; इसीलिये शाल्वने इसे स्वीकार नहीं किया। अतः अब तुम्हींको इसका विधिपूर्वक पाणिग्रहण करना होगा।' भीष्मने उनकी बात स्वीकार नहीं की। उन्होंने कहा कि 'इस कन्याने ही मुझसे कहा था कि मैं शाल्वकी हो चुकी हूँ। ऐसी हालतमें मैं उसे कैसे रख सकता था। जिसका दूसरे पुरुषपर प्रेम है, उसे कोई धार्मिक पुरुष कैसे रख सकता है। अब तो परशुराम आगबबूला हो गये। उन्होंने कहा—'भीष्म! तुम जानते नहीं कि मैंने इक्कीस बार इस पृथ्वीको क्षत्रियोंसे हीन कर दिया था?' भीष्मने कहा—'गुरुजी! उस समय भीष्म पैदा नहीं हुए थे।' यह सुनकर उन्होंने भीष्मको युद्धके लिये ललकारा। भीष्मने उनकी चुनौती स्वीकार कर ली। फिर तो गुरु-शिष्यमें भयङ्कर युद्ध छिड़ गया। तेईस दिनतक लगातार युद्ध होता रहा। परंतु किसीने भी हार नहीं मानी। अन्तमें देवताओंने तथा मुनियोंने बीचमें पड़कर युद्ध बंद करा दिया। इस प्रकार भीष्मने परशुरामकी बात भी न मानकर अपने सत्यकी रक्षा की तथा अपने अद्भुत पराक्रमसे परशुराम-जैसे अद्वितीय धनुर्धरके भी छक्के छुड़ा दिये। सत्यप्रतिज्ञा और वीरताकी पराकाष्ठा हो गयी।

भगवान् वासुदेव जब कौरवसभामें सन्धिका प्रस्ताव लेकर गये और सभामें अपना वक्तव्य सुनाया तो भीष्मजीने दुर्योधनको समझाते हुए कहा था कि, 'श्रीकृष्ण हम सबके सुहृद् हैं, हमारा कल्याण चाहते हैं, अतएव अभिमान छोड़कर इनकी बात माननी चाहिये। हे तात! यदि महापुरुष श्रीकृष्णकी बात नहीं मानोगे तो कदापि तुम्हारा कल्याण न होगा और न तुम सुख प्राप्त कर सकोगे।' * यही नहीं भीष्मने दुर्योधनको बारंबार सत्यका उपदेश दिया, बराबर पाण्डवोंसे मिल-जुलकर रहनेके लिये कहा; परन्तु दुर्योधनने उनकी एक न मानी और अन्तमें दुर्योधनकी हठधर्मीसे महाभारतका युद्ध आरम्भ हुआ।

महाभारत-युद्धमें कौरवपक्षके सर्वश्रेष्ठ योद्धा भीष्म ही थे। अतएव कौरवदलके प्रथम सेनानायक होनेका गौरव इन्हीं-को प्राप्त हुआ। पाण्डव एवं कौरव दोनोंके पितामह होनेके नाते इनका दोनोंसे ही समान प्रेम एवं सहानुभूति थी तथा ये दोनोंका ही समानरूपमें हित चाहते थे। फिर भी, यह जानकर कि धर्म एवं न्याय पाण्डवोंके ही पक्षमें है, ये पाण्डवोंके साथ विशेष सहानुभूति रखते थे और हृदयसे उनकी विजय चाहते थे; परन्तु हृदयसे पाण्डवोंके पक्षपाती होनेपर भी इन्होंने युद्धमें कभी पाण्डवोंके साथ रियायत नहीं की, और प्राणपणसे उन्हें जीतनेकी चेष्टा की।

भीष्मका यह ढंग महाभारतकारको नहीं रुचा। इसलिये भीष्मके मुखसे कहलाया—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

---

* अकृत्वा वचनं तात केशवस्य महात्मनः।
श्रेयो न जातु न सुखं न कल्याणमवाप्स्यसि॥
(उद्योग० १२५। ३)

भगवान् श्रीकृष्णने जब सन्धिका प्रस्ताव किया, तो भीष्मने उसे स्वीकार करनेके लिये दुर्योधनको बहुतेरा समझाया, पर वह न माना। तब पितामह अत्यन्त खिन्न होकर बोले—

शुश्रूषमनसूयं च ब्रह्मण्यं सत्यवादिनम्।
प्रतियोत्स्यामहे पार्थमतो दुःखतरं नु किम्॥
(उद्योग० १३९। ३)

'सदा सेवा करनेवाले, किसीसे द्वेष न करनेवाले, सत्यवादी, धर्मात्मा युधिष्ठिरके विरुद्ध मुझे युद्ध करना पड़ेगा, इससे बढ़कर दुःखकी बात और क्या हो सकती है।'

भीष्म जानते थे कि वासुदेव श्रीकृष्ण स्वयं नारायण ही हैं, और वे सन्धिका प्रयास करने आये हैं। दुर्योधन उनकी बातोंकी उपेक्षा कर रहा है, अतः इसका सर्वनाश निश्चित है। उद्योगपर्वके ४९वें अध्यायमें पहले ही भीष्मने दुर्योधनको यह रहस्य बतलाया था कि अर्जुन और श्रीकृष्ण नर-नारायणके अवतार हैं। अतएव दुर्योधनका विपरीत हठ करके श्रीकृष्णके वचनकी अवज्ञा करना सर्वनाशका कारण था, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु दुर्योधनके सर्वनाशको सामने देखते हुए भीष्मको पाण्डवोंके विरुद्ध युद्ध करना बहुत दुःखदायी जान पड़ा।

'पुरुष अर्थका दास हैं, पर अर्थ किसीका दास नहीं है। हे महाराज! यह सत्य है। कौरवोंने मुझे अर्थसे बाँध लिया है।'

युद्धके अठारह दिनोंमेंसे दस दिनोंतक अकेले भीष्मने कौरवोंका सेनानायकत्व किया और इस बीचमें पाण्डव-पक्षकी बहुत-सी सेनाका संहार कर डाला। वृद्ध होते हुए भी युद्धमें इन्होंने ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया कि दो बार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनकी रक्षाके लिये शस्त्र न लेनेकी प्रतिज्ञा होते हुए भी इनके मुकाबलेमें खड़ा होना पड़ा। अर्जुनका बल क्षीण होते देख एक बार तो वे चक्र लेकर इनके सामने दौड़े और दूसरी बार चाबुक लेकर उन्होंने भीष्मको ललकारा और इस प्रकार एक भक्तके प्राणोंकी रक्षा करते हुए दूसरे भक्तके गौरवको बढ़ाकर अपनी उभयतोमुखी भक्तवत्सलताका परिचय दिया। पश्चात् भीष्म रणकर्कश होकर पाण्डव सेनाका संहार करने लगे। उस समयका वर्णन करते हुए सञ्जय कहते हैं कि, 'अन्तमें पाण्डवोंने जब देखा कि भीष्मके रहते कौरवोंपर विजय पाना असम्भव-सा है, तब उन्होंने स्वयं पितामहसे उनकी मृत्युका उपाय पूछा और उन्होंने दया करके बताया कि 'द्रुपदकुमार शिखण्डी स्त्रीरूपमें जन्मा था; इसलिये यद्यपि वह अब पुरुषके रूपमें बदल गया है, फिर भी मेरी दृष्टिमें वह स्त्री ही है। ऐसी दशामें उसपर मैं शस्त्र नहीं उठा सकता। वह यदि मेरे सामने युद्ध करने आयेगा तो मैं शस्त्र नहीं चलाऊँगा। उस समय मुझे अर्जुन मार सकता है।' क्षत्रिय धर्मके पालन और वीरताका उदाहरण इससे बढ़कर क्या होगा?

जिस समय युद्धमें मर्माहत होकर भीष्म धराशायी हुए, उस समय उनका रोम-रोम बाणोंसे बिंध गया था। उन्हीं बाणोंपर वे सो गये, धरतीसे उनका स्पर्श नहीं हुआ। उस समय सूर्य दक्षिणायनमें थे। दक्षिणायनको देहत्यागके लिये उपयुक्त काल न समझकर वे अयन-परिवर्तनके समयतक उसी शरशय्यापर पड़े रहे; क्योंकि पिताके वरदानसे मृत्यु उनके अधीन थी। भीष्मजीके गिरते ही उस दिन युद्ध बंद हो गया। कौरव तथा पाण्डव वीर भीष्मजीको घेरकर उनके चारों ओर खड़े हो गये। भीष्मजीका सारा शरीर बाणोंपर तुला हुआ था, केवल उनका सिर नीचे लटक रहा था। उसके लिये उन्होंने कोई सहारा माँगा। लोगोंने उत्तमोत्तम तकिये लाकर उनके सामने रख दिये, परंतु उन्हें वे पसंद नहीं आये। तब उन्होंने अर्जुनसे कहा—'बेटा! तुम क्षत्रियधर्मको जानते हो, तुम मेरे अनुरूप तकिया लाकर दो।' अर्जुन उन वीरशिरोमणिके अभिप्रायको समझ गये। वीरोंके इशारे वीर ही समझ सकते हैं। उन्होंने बाण मारकर भीष्मजीके मस्तकको ऊँचा कर दिया, उन बाणोंपर उनका मस्तक टिक गया। इधर दुर्योधनने बाण निकालनेमें कुशल वैद्योंको भीष्मजीकी चिकित्साके लिये बुलवाया, परन्तु पितामहने उन सबको सम्मानपूर्वक लौटा दिया। उस वीरगतिको पाकर उन्होंने चिकित्सा कराना अपना अपमान समझा। सब लोग उनकी असाधारण धर्मनिष्ठा और साहस देखकर दंग रह गये। उस समय भी युद्ध बंद कराने तथा दोनों पक्षोंमें शान्ति स्थापन करानेकी इन्होंने पूरी चेष्टा की; परंतु उसमें ये सफल नहीं हुए। दैवका ऐसा ही विधान था। उसे कौन टाल सकता था।'

बाणोंकी असह्य वेदनासे भीष्मजीका गला सूख रहा था, उनका सारा शरीर जल रहा था। उन्होंने पीनेके लिये पानी माँगा। लोगोंने झारियोंमें भरकर शीतल और सुगन्धित जल उनके सामने उपस्थित किया। भीष्मने उसे लौटा दिया। उन्होंने कहा कि 'पहले भोगे हुए मानवीय भोगोंको अब मैं स्वीकार नहीं कर सकता; क्योंकि इस समय मैं शरशय्यापर पड़ा हूँ।' तब उन्होंने अर्जुनको बुलाकर कहा—'बेटा! तुम्हीं मुझे विधिवत् जल पिला सकते हो।' अर्जुनने 'जो आज्ञा' कहकर अपने भाथेमेंसे एक दमकता हुआ बाण निकाला और उसे पर्जन्यास्त्रसे संयोजितकर भीष्मके बगल-वाली जमीनपर मारा। उसी समय सबके देखते-देखते पृथ्वीमेंसे दिव्य जलकी एक धारा निकली और वह ठीक भीष्मजीके मुखपर गिरने लगी। उस अमृतके समान जलको पीकर भीष्मजी तृप्त हो गये और अर्जुनके उस कर्मकी उन्होंने भूरि-भूरि प्रशंसा की। उसी समयसे भीष्मजीने अन्न-जलका त्याग कर दिया और फिर जितने दिन वे जीवित रहे, बाणोंकी मर्मान्तक पीड़ाके साथ-साथ भूख-प्यासकी असह्य वेदना भी सहते रहे। इस प्रकार उन्होंने वीरताके साथ-साथ धैर्य एवं सहन-शक्तिकी पराकाष्ठा दिखा दी।

महामना भीष्म अखण्ड ब्रह्मचारी, आदर्श पितृभक्त, आदर्श सत्यप्रतिज्ञ एवं आदर्श वीर ही नहीं थे, वे शास्त्रोंके महान् ज्ञाता, धर्म एवं ईश्वरके तत्त्वको जाननेवाले एवं महान् भगवद्भक्त भी थे। उनके अगाध ज्ञानकी स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने प्रशंसा की और यहाँतक कह दिया कि 'आपके इस लोकसे चले जानेपर सारे ज्ञान लुप्त हो जायँगे; संसारमें जो संदेहग्रस्त विषय हैं, उनका समाधान करनेवाला आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है' इत्यादि। भगवान् श्रीकृष्णकी प्रेरणा एवं शक्तिसे इन्होंने युधिष्ठिरको लगातार कई दिनोंतक वर्णाश्रमधर्म, राजधर्म, आपद्धर्म, मोक्षधर्म, श्राद्धधर्म, दान-धर्म, स्त्रीधर्म आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयोंपर उपदेश दिया, जो महाभारतके शान्तिपर्व तथा अनुशासनपर्वमें संगृहीत है। साक्षात् धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए तथा धर्मकी प्रत्यक्ष मूर्ति महाराज युधिष्ठिरकी धर्म-विषयक शङ्काओंका निवारण करना भीष्मका ही काम था। इनका उपदेश सुननेके लिये व्यास आदि महर्षि भी उपस्थित हुए थे।

भगवान् श्रीकृष्णके माहात्म्य एवं प्रभावका ज्ञान जैसा भीष्मको था, वैसा उस समय बहुत कम लोगोंको था। धृतराष्ट्र एवं दुर्योधनको इन्होंने कई बार श्रीकृष्णकी महिमा सुनायी थी। राजसूय यज्ञमें जब महाराज युधिष्ठिरने पितामहसे पूछा कि यहाँ सबसे पहले किसको अर्घ्य निवेदन करना चाहिये, तब भीष्मजीने उत्तर दिया—

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः॥
(सभा० ३६। २८, २९)

ये भगवान् श्रीकृष्ण इन सब राजाओंके बीचमें अपने तेज, बल और पराक्रमके द्वारा इस प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे ग्रह-नक्षत्रोंमें सूर्यनारायण। जैसे अन्धकारपूर्ण स्थान सूर्यके उदयसे आभासित होता है, जैसे निर्वात स्थान पवनके झोंकेसे आह्लादित हो उठता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके द्वारा हमारी यह सभा आभासित और आह्लादित हो रही है।

भीष्मजीके इस कथनके उपरान्त श्रीकृष्णकी सर्वप्रथम पूजा की गयी। इसपर शिशुपाल बिगड़ गया, तब भीष्मजीने उसको फटकारते हुए कहा—

नास्मै देयो ह्यनुनयो नायमर्हति सान्त्वनम्।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते॥
अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा॥
न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः॥
तस्मात्सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान्।
एवं वक्तुं न चार्हसि त्वं मा ते भूद्बुद्धिरीदृशी॥
(सभा० ३८। ६, ८, ९, ११)

'इस शिशुपालको सान्त्वना देना या समझाना-बुझाना ठीक नहीं है, जो सम्पूर्ण जगत्में सर्वश्रेष्ठ श्रीकृष्णकी अग्रपूजामें असम्मति प्रकट करता है। राजाओंकी इस सभामें एक भी राजा ऐसा नहीं दिखलायी देता जो युद्धमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णके तेजसे परास्त न हुआ हो। महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे ही लिये परम पूजनीय नहीं हैं। ये तो तीनों लोकोंमें अभिवन्दनीय हैं। श्रीकृष्णने संग्राममें अनेकों क्षत्रियशिरोमणि राजाओंको परास्त किया है। यह सम्पूर्ण जगत् पूर्णतः वासुदेव श्रीकृष्णमें प्रतिष्ठित है।' बाणशय्यापर पड़े-पड़े भीष्म भगवान् श्रीकृष्णकी स्तुति करते रहते थे। इन्होंने भरी सभामें श्रीकृष्णकी महिमा गायी थी और उन्हें साक्षात् ईश्वर बतलाया था।

श्रीकृष्ण जब अर्जुनकी ओरसे चक्र लेकर इनके सामने दौड़े तो इन्होंने उनके हाथसे मरनेमें अपना गौरव समझकर शस्त्रोंके द्वारा ही उनकी पूजा करनेके लिये उनका आवाहन किया। इन्होंने युधिष्ठिरको भगवान् विष्णुका जो सहस्रनाम-स्तोत्र सुनाया, उससे इनकी भगवद्भक्ति तथा भगवत्तत्त्वका ज्ञान टपका पड़ता है।* इनकी भक्तिका ही यह फल था कि साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने अन्त समयमें इन्हें दर्शन देकर कृतार्थ किया। इस प्रकार भक्ति, ज्ञान, सदाचार—जिस ओरसे भी हम भीष्मके चरित्रपर दृष्टि डालते हैं, उसी ओरसे हम उसे आदर्श पाते हैं। भीष्मकी कोटिके महापुरुष संसारके इतिहासमें विरले ही पाये जाते हैं। यद्यपि भीष्म अपुत्र ही मरे, फिर भी सारे त्रैवर्णिक हिंदू आजतक पितरोंका तर्पण करते समय इन्हें जल देते हैं। यह गौरव भारतके इतिहासमें और किसी भी मनुष्यको प्राप्त नहीं है। इसीलिये सारा जगत् आज भी इन्हें पितामहके नामसे पुकारता है। भीष्मकी-सी अपुत्रता बड़े-बड़े पुत्रवानोंके लिये भी ईर्ष्याकी वस्तु है।

धर्मराज युधिष्ठिर

महाराज युधिष्ठिर भी भीष्मकी ही भाँति अत्यन्त उच्च कोटिके महापुरुष थे। ये साक्षात् धर्मके अंशसे उत्पन्न हुए थे। ये धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप थे। इसीसे लोग इन्हें धर्मराजके नामसे पुकारते थे। इनमें धैर्य, स्थिरता, सहिष्णुता, नम्रता, दयालुता और अविचल प्रेम आदि अनेकों लोकोत्तर गुण थे। ये अपने शील, सदाचार तथा विचारशीलताके कारण बचपनमें ही अत्यधिक लोकप्रिय हो गये थे। जब ये बहुत छोटे थे, तभी इनके पिता महात्मा पाण्डु स्वर्गवासी हो गये। तभीसे ये अपने ताऊ धृतराष्ट्रको ही पिताके तुल्य मानकर उनका बड़ा आदर करते थे और उनकी किसी भी आज्ञाको टालते न थे। परंतु धृतराष्ट्र अपने कुटिल स्वभावके कारण इनके गुणोंकी प्रशंसा सुन-सुनकर मन-ही-मन इनसे कुढ़ने लगे। उनका पुत्र दुर्योधन चाहता था कि किसी तरह पाण्डव कुछ दिनके लिये हस्तिनापुरसे हट जायँ तो उनकी अनुपस्थितिमें उनके पैतृक अधिकारको छीनकर स्वयं राजा बन बैठूँ। उसने अपने अंधे एवं प्रज्ञाहीन पिताको पट्टी पढ़ाकर इसके लिये राजी कर लिया। धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको बुलाकर उन्हें मेला देखनेके बहाने वारणावत भेजनेका प्रस्ताव रक्खा। उन्होंने उनकी आज्ञा समझकर उसपर कोई आपत्ति नहीं की और चुपचाप अपनी माता कुन्तीके साथ पाँचों भाई वारणावत चले गये। इन्हें जला डालनेके लिये वहाँ दुर्योधनने

* आज भी उस विष्णुसहस्रनामका भक्तोंमें बड़ा आदर है। भगवान् शंकराचार्यने गीता, उपनिषद् एवं ब्रह्मसूत्रोंकी भाँति उसपर भी विस्तृत भाष्य लिखा है।

एक लाक्षाभवन तैयार कराया था। उसीमें इन्हें रहनेकी आज्ञा हुई। परंतु पाण्डवोंको इसका सुराग लग गया और—चाचा विदुरकी सहायतासे ये लोग वहाँसे किसी प्रकार अपने प्राण बचाकर भागे और जंगलकी शरण ली। पीछेसे धृतराष्ट्रके पुत्रोंने इन्हें मरा समझकर हस्तिनापुरके राज्यपर चुपचाप अधिकार कर लिया।

कुछ दिनोंके बाद द्रौपदीके स्वयंवरमें जब पाण्डवोंका रहस्य खुला;तब धृतराष्ट्रके पुत्रोंको यह पता लगा कि पाण्डव अभी जीवित हैं। तब तो धृतराष्ट्रने विदुरको भेजकर पाण्डवोंको हस्तिनापुर बुलवा लिया और अपने पुत्रोंके साथ उनका झगड़ा मिटा देनेके लिये आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थमें रहनेका प्रस्ताव उनके सामने रक्खा। युधिष्ठिरने उनकी यह आज्ञा भी स्वीकार कर ली और वे अपने भाइयोंके साथ खाण्डवप्रस्थमें रहने लगे। वहाँ इन्होंने अपनी एक अलग राजधानी बसा ली, जिसका नाम इन्द्रप्रस्थ रक्खा गया। वहाँ इन्होंने एक राजसूय यज्ञ किया, जिसमें बड़े-बड़े राजाओंने आकर इन्हें बहुमूल्य उपहार दिये और इन्हें अपना सम्राट् स्वीकार किया।

परंतु धृतराष्ट्रके पुत्रोंने वहाँ भी इन्हें नहीं रहने दिया। दुर्योधन इनके वैभवको देखकर जलने लगा। उसने एक विशाल सभाभवन तैयार कराके पाण्डवोंको जुएके लिये आमन्त्रित किया। जुएको बुरा समझते हुए भी धृतराष्ट्रकी आज्ञा मानकर युधिष्ठिरने उसका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और वहाँ दुर्योधनके मामा शकुनिकी कपटभरी चालोंसे अपना सर्वस्व हार बैठे। यहाँतक कि भरी सभामें राजरानी द्रौपदीकी बड़ी भारी फजीहत की गयी। फिर भी धृतराष्ट्रके प्रति युधिष्ठिरका यही भाव बना रहा। धृतराष्ट्रने भी उन्हें उनका सारा धन और राज्य लौटा दिया और उन्हें वापस इन्द्रप्रस्थ भेज दिया। परंतु दुर्योधनको यह सहन नहीं हुआ। उसने धृतराष्ट्रको समझा-बुझाकर इस बातके लिये राजी कर लिया कि पाण्डवोंको दूत भेजकर फिरसे बुलाया जाय और उनसे वनवासकी शर्तपर पुनः जुआ खेला जाय। युधिष्ठिर जुएका दुष्परिणाम एक बार देख चुके थे तथा कौरवोंकी नीयतका भी पता उन्हें चल गया था। फिर भी अपने ताऊकी आज्ञाको वे टाल नहीं सके और बीचमेंसे ही लौट आये। अबकी बार भी युधिष्ठिर ही हारे और फलतः उन्हें सब कुछ छोड़कर अपने भाइयों तथा राजरानी द्रौपदीके साथ बारह वर्षके वनवास तथा एक वर्षके अज्ञात-वासके लिये जाना पड़ा। ताऊके आज्ञापालनरूप धर्मके निर्वाहके लिये उन्होंने सब कुछ चुपचाप सह लिया!

महाराज युधिष्ठिर बड़े ही धर्मभीरु एवं सहनशील थे। वे सब प्रकारकी हानि सह सकते थे, परंतु धर्मकी हानि उन्हें सह्य नहीं थी। प्रथम बार जुएमें जब वे अपने चारों भाइयोंको तथा अपने-आपको एवं द्रौपदीतकको हार गये और कौरवलोग भरी सभामें द्रौपदीका तिरस्कार करने लगे, उस समय भी धर्मपाशसे बँधे रहनेके कारण उन्होंने चूँतक नहीं किया और चुपचाप सब कुछ सह लिया। कोई सामान्य मनुष्य भी अपनी आँखोंके सामने अपनी स्त्रीकी इस प्रकार दुर्दशा होते नहीं देख सकता। उन्हींके भयसे उनके भाई भी कुछ नहीं बोले और मन मसोसकर रह गये। ये लोग चाहते तो बलपूर्वक उस अमानुषी अत्याचारको रोक सकते थे। परंतु यही सोचकर कि धर्मराज द्रौपदीको स्वेच्छासे दाँवपर रखकर हार गये हैं, ये लोग चुप रहे। जिस द्रौपदीको इनके सामने कोई आँख उठाकर भी देख लेता तो उसे अपने प्राणोंसे हाथ धोने पड़ते, उसी द्रौपदीकी दुर्दशा इन्हों-ने अपनी आँखोंसे देखकर भी उसका प्रतिकार नहीं किया। युधिष्ठिर यह भी जानते थे कि शकुनिने उन्हें कपटपूर्वक जीता है, फिर भी उन्होंने अपनी ओरसे धर्मका त्याग करना उचित नहीं समझा। उन्होंने सब कुछ सहकर भी सत्य और धर्मकी रक्षा की। धर्मप्रेम और सहनशीलताका इससे बड़ा उदाहरण जगत्में शायद ही कहीं मिले।

जब पाण्डवलोग दूसरी बार भी जुएमें हार गये और वनमें जाने लगे, उस समय हस्तिनापुरकी प्रजाको बड़ा दुःख हुआ। सब लोग कौरवोंको कोसने लगे और नगरवासी बहुत बड़ी संख्यामें अपने घर-परिवारको छोड़कर इनके साथ चलनेके लिये इनके पीछे हो लिये। उस समय भी धर्मराजने कौरवोंके विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा और सब लोगोंको किसी प्रकार समझा-बुझाकर लौटाया। फिर भी बहुत-से ब्राह्मण जबर्दस्ती इनके साथ हो लिये। उस समय धर्मराजको यह चिन्ता हुई कि 'इतने ब्राह्मण मेरे साथ चल रहे हैं, इनके भोजनकी क्या व्यवस्था होगी?' इन्हें अपने कष्टोंकी तनिक भी परवा नहीं थी, परंतु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकते थे। अन्तमें इन्होंने भगवान् सूर्यकी आराधना करके उनसे एक ऐसा पात्र प्राप्त किया, जिसमें पकाया हुआ थोड़ा-सा भी भोजन अक्षय हो जाता। उसीसे ये वनमें रहते हुए भी अतिथि-ब्राह्मणको भोजन कराकर पीछे स्वयं भोजन करते। वनवासके कष्ट भोगते हुए भी इन्होंने आतिथ्य-धर्मका यथोचित पालन किया। महाराज युधिष्ठिरके इसी धर्मप्रेमसे आकर्षित होकर बड़े-बड़े महर्षि इनके वनवासके समय इनके पास आकर रहते और यज्ञादि नाना प्रकारके धर्मानुष्ठान करते।

महाराज युधिष्ठिर अजातशत्रुके नामसे प्रसिद्ध थे। उनका वास्तवमें किसीके साथ वैर नहीं था। शत्रुओंके प्रति भी उनके हृदयमें सदा सद्भाव ही रहता था। शत्रु भी उनकी दृष्टिमें सेवा और सहानुभूतिके ही पात्र थे। अपकार

करनेवालेका भी उपकार करना—यही तो संतका सबसे बड़ा लक्षण है । 'उमा संत कइ इहइ बड़ाई । मंद करत जो करइ भलाई ॥'—गोस्वामी तुलसीदासजीकी यह उक्ति महाराज युधिष्ठिरमें पूरी तरह चरितार्थ होती थी । एक बारकी बात है—जब पाण्डव द्वैतवनमें थे, घोषयात्राके बहाने राजा दुर्योधन अपने मन्त्रियों, भाइयों, रनिवासकी स्त्रियों तथा बहुत बड़ी सेनाको साथ लेकर वनवासी पाण्डवोंको अपने वैभवसे जलानेके पापपूर्ण उद्देश्यसे उस वनमें पहुँचा, वहाँ जलक्रीडाके विचारसे वह उस सरोवरके तटपर पहुँचा, जहाँ महाराज युधिष्ठिर कुटी बनाकर रहते थे । सरोवरको गन्धर्वोंने पहलेसे ही घेर रक्खा था । उनके साथ दुर्योधनकी मुठभेड़ हो गयी । बस, दोनों ओरसे बड़ा भीषण और रोमाञ्चकारी युद्ध छिड़ गया । विजय गन्धर्वोंकी ओर रही । उन लोगोंने रानियोंसहित दुर्योधनको कैद कर लिया । जब महाराज युधिष्ठिरको यह समाचार मिला तो उन्होंने अपने भाइयोंको आज्ञा दी कि 'तुम सब लोग जाकर बलपूर्वक राजा दुर्योधनको छुड़ा लाओ । माना कि ये लोग हमारे शत्रु हैं, परंतु इस समय विपत्तिमें हैं । इस समय इनके अपराधोंको भुलाकर इनकी सहायता करना ही हमारा धर्म है । शत्रु हैं तो क्या आखिर हैं तो हमारे भाई ही । हमारे रहते दूसरे लोग इनकी दुर्दशा करें, यह हमलोग कैसे देख सकते हैं ।' भीमसेनको समझाते हुए उन्होंने कहा कि 'भाई-बन्धुओंमें मतभेद और झगड़े होते ही रहते हैं इससे आत्मीयता नहीं चली जाती ।' बस, फिर क्या था । अर्जुनने अपनी बाणवर्षासे गन्धर्वोंके छक्के छुड़ा दिये और दुर्योधनको भाइयों तथा रानियोंसहित उनके चंगुलसे छुड़ा लिया । दुर्योधनकी दुरभिसन्धिको जानकर देवराज इन्द्रने ही दुर्योधनको बाँध ले आनेके लिये गन्धर्वोंको भेजा था । महाराज युधिष्ठिरके विशाल हृदयको देखकर वे सब दंग रह गये । धन्य अजातशत्रुता !

एक समयकी बात है, द्रौपदीको आश्रममें अकेली छोड़कर पाण्डव वनमें चले गये थे । पीछेसे दुर्योधनका बहनोई सिन्धुराज जयद्रथ उधर आ निकला । द्रौपदीके अनुपम रूपलावण्यको देखकर उसका मन बिगड़ गया । उसने द्रौपदीके सामने अपना पापपूर्ण प्रस्ताव रक्खा, किंतु द्रौपदीने उसे तिरस्कारपूर्वक ठुकरा दिया । तब तो उसने द्रौपदीको खींचकर जबर्दस्ती अपने रथपर बिठा लिया और उन्हें ले भागा । पीछेसे पाण्डवोंको जब जयद्रथकी शैतानीका पता लगा तो उन्होंने उसका पीछा किया और थोड़ी ही देरमें उसे जा दबाया । पाण्डवोंने बात-की-बातमें उसकी सारी सेनाओंको तहस-नहस कर डाला । पापी जयद्रथने भयभीत होकर द्रौपदीको रथसे नीचे उतार दिया और स्वयं प्राण बचाकर भागा । भीमसेनने उसका पीछा किया और थोड़ी ही देरमें उसे पकड़कर धर्मराजके सामने ला उपस्थित किया । धर्मराजने उसे सम्बन्धी समझकर दयापूर्वक छोड़ दिया और इस प्रकार अपनी अद्भुत क्षमाशीलता एवं दयालुताका परिचय दिया ।

महाराज युधिष्ठिर बड़े भारी बुद्धिमान्, नीतिज्ञ और धर्मज्ञ तो थे ही; उनमें समता भी अद्भुत थी । एक समयकी बात है—जिस वनमें पाण्डवलोग रहते थे, वहाँ एक ब्राह्मणके अरणिसहित मन्थनकाष्ठसे, जो किसी वृक्षकी शाखापर टँगा हुआ था, एक हरिन अपना सींग खुजलाने लगा । वह काष्ठ उसके सींगमें फँस गया । हिरन उसे लेकर भागा । मन्थनकाष्ठके न रहनेसे अग्निहोत्रमें बाधा आती देख ब्राह्मण पाण्डवोंके पास आया और उनसे वह मन्थनकाष्ठ ला देनेकी प्रार्थना की । धर्मराज युधिष्ठिर अपने चारों भाइयोंको साथ लेकर मृगके पीछे भागे, परंतु वह देखते-देखते उनकी आँखोंसे ओझल हो गया । पाण्डव बहुत थक गये थे । प्यास उन्हें अलग सता रही थी । धर्मराजकी आज्ञा पाकर नकुल पानीकी तलाशमें गये । थोड़ी ही दूरपर उन्हें एक सुन्दर जलाशय मिला । उसके समीप जाकर ज्यों ही वे जल लेनेके लिये झुके कि उन्हें यह आकाशवाणी सुनायी दी—'पहले मेरे प्रश्नोंका उत्तर दो तब जल पीना ।' परंतु नकुलको बड़ी प्यास लगी थी । उन्होंने आकाशवाणीकी कोई परवा नहीं की । फलतः पानी पीते ही वे निर्जीव होकर जमीनपर लोट गये । पीछेसे धर्मराजने क्रमशः सहदेव, अर्जुन और भीमसेनको भेजा; परंतु उन तीनोंकी भी वही दशा हुई । अन्तमें धर्मराज स्वयं उस तालाबपर पहुँचे । उन्होंने भी वही आवाज सुनी और साथ ही अपने चारों भाइयोंको निश्चेष्ट होकर जमीनपर पड़े देखा । इतनेमें ही उन्हें एक विशालकाय यक्ष दीख पड़ा । उसने युधिष्ठिरको बतलाया कि 'मेरे प्रश्नोंका उत्तर दिये बिना ही जल पीनेके कारण तुम्हारे भाइयोंकी यह दशा हुई है । यदि तुम भी ऐसी अनधिकार चेष्टा करोगे तो मारे जाओगे ।' युधिष्ठिर उसके प्रश्नोंका उत्तर देनेको तैयार हो गये । यक्षने जो-जो प्रश्न युधिष्ठिरसे किये, उन सबका समुचित उत्तर देकर युधिष्ठिरने यक्षका अच्छी तरह समाधान कर दिया । इनके उत्तरोंसे प्रसन्न होकर यक्ष बोला—'राजन् ! अपने भाइयोंमेंसे जिस-किसीको तुम जिलाना चाहो, उसे मैं जीवित कर दूँ ।' धर्मराजने नकुलको जीवित देखना चाहा । कारण पूछनेपर उन्होंने बताया कि 'मेरे पिताके दो भार्याएँ थीं—कुन्ती और माद्री । मेरी दृष्टिमें वे दोनों समान हैं । मैं चाहता हूँ कि वे दोनों पुत्रवती बनी रहें । कुन्तीका पुत्र तो मैं मौजूद हूँ ही; मैं चाहता हूँ कि माद्रीका भी एक पुत्र बना रहे । इसीलिये मैंने भीम और अर्जुनको छोड़कर उसे जिलानेकी प्रार्थना

की है।' युधिष्ठिरकी बुद्धिमत्ता तथा धर्ममत्ताकी परीक्षाके लिये स्वयं धर्मने ही यह लीला की थी। उनकी इस अद्भुत समताको देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने अपना परिचय देकर चारों भाइयोंको जीवित कर दिया। धर्मने उन्हें यह भी कहा कि 'मैं ही मृग बनकर उस ब्राह्मणके मन्थनकाष्ठको ले गया था; लो, यह मन्थनकाष्ठ तुम्हारे सामने है।' युधिष्ठिरने वह मन्थनकाष्ठ उस ब्राह्मणको ले जाकर दे दिया।

युधिष्ठिरको भगवान् श्रीकृष्णमें बड़ी आस्था थी। श्रीकृष्ण उनके ममेरे भाई थे और उम्रमें छोटे थे। अतएव उनमें पारस्परिक आत्मीयता और प्रेमका होना स्वाभाविक था। परंतु युधिष्ठिर श्रीकृष्णपर बड़ा भरोसा रखते थे। जब भगवान् वासुदेव दूत बनकर कौरव-सभामें जा रहे थे, उस समय महाराज युधिष्ठिरने कहा था—

> प्रियश्च प्रियकामश्च गतिज्ञः सर्वकर्मणाम्।
> को हि कृष्णास्ति नस्त्वादृक् सर्वनिश्चयवित् सुहृत्॥
> (उद्योग० ७२। ७८)

'श्रीकृष्ण! तुम्हारे समान हमारा प्रिय, हितचिन्तक, सब कर्मोंकी गतिको जाननेवाला तथा सब प्रकारके निश्चय-का ज्ञाता दूसरा सुहृद् कौन है?'

> अस्मान् वेत्थ परान् वेत्थ वेत्थार्थान् वेत्थ भाषितुम्।
> यद् यदस्मद्धितं कृष्ण तत् तद् वाच्यः सुयोधनः॥
> (उद्योग० ७२। ९२)

'श्रीकृष्ण! तुम हमको जानते हो, कौरवोंको जानते हो, हम दोनोंके स्वार्थको जानते हो, बातचीत करना भी जानते हो। अतएव जिस बातसे हमारा हित हो, वह दुर्योधनको समझाओ।'

यहाँ यह विशेष द्रष्टव्य है कि 'दुर्योधन' के स्थानमें 'सुयोधन' शब्दका प्रयोग करना सौजन्यको अभिव्यक्त करता है। 'अस्मत्' शब्द कौरव और पाण्डव दोनोंका बोधक है तथा इससे महाराज युधिष्ठिरकी सदाशयताका पता लगता है।

महाराज युधिष्ठिर दुर्गाके भक्त थे। विराटपर्वके छठे अध्यायमें उनके द्वारा की गयी दुर्गाकी स्तुति है। दुर्गाजीने प्रकट होकर उनको वरदान दिया था कि अज्ञातवासमें विराटनगरमें रहते हुए कोई उनको पहचान न सकेगा।

युधिष्ठिर जैसे सदाचारसम्पन्न थे वैसे ही विनयी भी थे। वे समयोचित व्यवहारमें बड़े कुशल थे, गुरुजनोंकी मान-मर्यादाका सदा ध्यान रखते थे। कठिन-से-कठिन समयमें भी वे शिष्टाचारकी मर्यादाको नहीं भूलते थे। महाभारत-युद्धके आरम्भमें जब दोनों ओरकी सेनाएँ युद्धके लिये संनद्ध खड़ी थीं, उस समय इन्होंने सबसे पहले शत्रुसेनाके बीचमें जाकर पितामह भीष्म, आचार्य द्रोण एवं कृप तथा मामा शल्यके चरणोंमें प्रणाम किया और आशीर्वाद माँगा। उनके इस विनयपूर्ण एवं शिष्टजनोचित व्यवहारसे वे सभी गुरुजन बड़े प्रसन्न हुए और उनकी हृदयसे विजय-कामना की। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरके इस आदर्श व्यवहारका अनुमोदन किया।

युधिष्ठिरकी सत्यवादिता तो जगद्विख्यात थी। सब कोई जानते थे कि युधिष्ठिर भय अथवा लोभवश कभी असत्य नहीं बोलते। उनकी सत्यवादिताका ही फल था कि उनके रथके पहिये सदा पृथ्वीसे चार अंगुल ऊँचे रहा करते थे। जीवनमें केवल एक बार इन्होंने असत्य भाषण किया। इन्होंने द्रोणाचार्यके सामने अश्वत्थामा हाथीके मारे जानेके बहाने झूठ-मूठ यह कह दिया कि 'अश्वत्थामा मारा गया।' इसी एक बारकी सत्यच्युतिके फलस्वरूप इनके रथके पहिये पृथ्वीसे सटकर चलने लगे और इन्हें मुहूर्तभरके लिये कल्पित नरकका दृश्य भी देखना पड़ा।

युधिष्ठिरकी उदारता भी अलौकिक थी। जब कौरवोंने किसी प्रकार भी इनका राज्य लौटाना मंजूर नहीं किया तो इन्होंने केवल पाँच गाँव लेकर संतोष करना स्वीकार कर लिया और भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा दुर्योधनको यह कहला भेजा कि 'यदि वह हमें हमारे इच्छानुसार केवल पाँच गाँव देना मंजूर कर ले तो हम युद्ध नहीं करेंगे।' परंतु दुर्योधनने इन्हें सूईकी नोकके बराबर जमीन देना भी स्वीकार नहीं किया। तब इन्हें बाध्य होकर युद्ध छेड़ना पड़ा। इतना ही नहीं, जब दुर्योधनकी सारी सेना मर-खप गयी और वह स्वयं एक तालाबमें जाकर छिप रहा, उस समय इन्होंने उसके पास जाकर उसे अन्तिम बार युद्धके लिये ललकारते हुए यहाँतक कह दिया कि 'हममेंसे जिस-किसीके साथ तुम युद्ध कर सकते हो। हममेंसे किसी एकपर भी तुम द्वन्द्वयुद्धमें विजय पा लोगे तो सारा राज्य तुम्हारा हो जायगा।' भला, इस प्रकारकी शर्त कोई दूसरा कर सकता है। जिस दुर्योधनका गदायुद्धमें भीमसेन भी, जो पाण्डवोंमें सबसे अधिक बलवान् एवं गदायुद्धमें प्रवीण थे, मुकाबला करते हिचकते थे, उसके साथ यह शर्त कर लेना कि 'हममेंसे किसी एकको तुम हरा दोगे तो राज्य तुम्हारा हो जायगा' युधिष्ठिर-जैसे महानुभावका ही काम था। अन्त-में भीमसेनके साथ उसका युद्ध होना निश्चित हुआ और भीमसेनके द्वारा वह मारा गया।

इतना ही नहीं, युद्ध-समाप्तिके बाद जब युधिष्ठिरका राज्याभिषेक हो गया और धृतराष्ट्र-गान्धारी इन्हींके पास रहने लगे, उस समय इन्होंने उनके साथ ऐसा सुन्दर बर्ताव किया कि उन्हें अपने पुत्रोंकी मृत्युका दुःख भूल गया। इन्होंने दोनोंको इतना सुख पहुँचाया, जितना उन्हें अपने

पुत्रोंसे भी नहीं मिला था। ये सारा राज-काज उन्हींसे पूछ-पूछकर करते थे और राज-काज करते हुए भी इनकी सेवाके लिये बराबर समय निकाला करते थे। तथा इनकी माता कुन्ती सम्राज्ञी द्रौपदी तथा अपनी अन्य बहुओंके साथ देवी गान्धारी-की सेवा किया करती थीं। ये इस बातका सदा ध्यान रखते थे कि उनके सामने कभी कोई ऐसी बात न हो, जिससे उनका पुत्र-शोक उमड़ पड़े। अन्तमें जब धृतराष्ट्र और गान्धारीने अपनी शेष आयु वनमें बितानेका निश्चय किया, उस समय युधिष्ठिरको बड़ा दुःख हुआ और ये स्वयं उनके साथ वन जानेको तैयार हो गये। बड़ी कठिनतासे व्यासजी-ने आकर इन्हें समझाया, तब कहीं ये धृतराष्ट्र-गान्धारीको वन भेजनेपर राजी हुए। फिर भी कुन्तीदेवी तो अपनी जेठ-जेठानीके साथ ही गयीं और अन्त समयतक उनकी सेवा-में रहीं और उनके साथ ही प्राण-त्याग भी किया। वन जाने-से पहले धृतराष्ट्रने अपने मृत पुत्रों तथा अन्य सम्बन्धियोंका विधिपूर्वक अन्तिम बार श्राद्ध करना चाहा और उन्हींके कल्याणके लिये ब्राह्मणोंको अपरिमित दान देना चाहा। युधिष्ठिरको जब इनकी इच्छा मालूम हुई तो इन्होंने विदुर-जीके द्वारा यह कहलाया कि 'अर्जुनसहित मेरा प्राणपर्यन्त सर्वस्व आपके अर्पण है।' एवं उनकी इच्छासे भी अधिक खुले हाथों खर्च करनेका प्रबन्ध कर दिया। फिर तो धृतराष्ट्र-ने बड़े विधि-विधानसे अपने सम्बन्धियोंका श्राद्ध किया और ब्राह्मणोंको भरपूर दान दिया। उस समय महाराज युधिष्ठिर-ने धृतराष्ट्रके आज्ञानुसार धन और रत्नोंकी नदी-सी बहा दी। जिसके लिये सौकी आज्ञा हुई, उसे हजार दिया गया। जब धृतराष्ट्र-गान्धारी वनको जाने लगे, उस समय पाण्डवलोग अपनी रानियोंके साथ पैदल ही बड़ी दूरतक उन्हें पहुँचाने गये। जिन धृतराष्ट्रकी बदौलत पाण्डवोंको भारी-भारी विपत्तियोंका सामना करना पड़ा, जिनके कारण उन्हें अपने पैतृक अधिकारसे वञ्चित रहना पड़ा और कितनी बार वनवासके कष्ट उठाने पड़े, जिनकी उपस्थितिमें उनके पुत्रों-ने सती-शिरोमणि द्रौपदीका भरी सभामें घोर अपमान किया और जिन्होंने उन्हें दर-दरका भिखारी बना दिया और पाँच गाँवतक देना मंजूर नहीं किया—जिसके फलस्वरूप दोनों ओरसे इतना भीषण नरसंहार हुआ—उन्हीं धृतराष्ट्रके प्रति इतना निश्छल प्रेम-भाव रखना और अन्ततक उन्हें सुख पहुँचानेकी पूरी चेष्टा करना युधिष्ठिर-जैसी महान् आत्माका ही काम था। वैरीके प्रति ऐसा सद्व्यवहार जगत्के इतिहास-में कम ही देखनेको मिलेगा।

महाराज युधिष्ठिरकी शरणागतवत्सलता तथा प्रेम तो और भी विलक्षण था। भगवान् श्रीकृष्णके परमधामगमन तथा यादवोंके संहारकी बात जब इन्होंने सुनी तो इन्हें बड़ा दुःख हुआ। इन्होंने सोचा कि 'जब हमारे परम आत्मीय तथा हितू श्रीकृष्ण ही इस धरातलपर न रहे, जिनकी बदौलत हमने सब कुछ पाया था, तो फिर हमारे लिये यह राज्य-सुख किस कामका और इस जीवनको ही रखनेसे क्या प्रयोजन।' श्रीकृष्णकी बात तो अलग रही, वे तो पाण्डवोंके जीवन-प्राण एवं सर्वस्व ही थे। उनके ऊपर तो उनका सब कुछ निर्भर था। कौरवोंके विनाशपर ही उन्हें इतना दुःख हुआ था कि विजय तथा राज्यप्राप्तिके उपलक्ष्यमें हर्ष मनानेके बदले वे सब कुछ छोड़कर वन जानेको तैयार हो गये थे। बड़ी कठिनतासे भगवान् श्रीकृष्ण तथा महर्षि व्यास आदिने उन्हें समझा-बुझाकर राज्याभिषेकके लिये तैयार किया था। भीष्मपितामहने भी धर्मका उपदेश देकर इनका शोक दूर करनेकी चेष्टा की, तथा भीष्मजीकी आज्ञा मानकर इन्होंने राज्य भी किया; परंतु स्वजनवधसे होनेवाली ग्लानि इनके चित्तसे सर्वथा दूर नहीं हुई। अब श्रीकृष्णके परमधाम-गमनकी बात सुनकर तो इन्होंने वन जानेका दृढ़ निश्चय कर लिया और अर्जुनके पौत्र कुमार परीक्षित्को राजगद्दीपर बिठाकर तथा कृपाचार्य एवं धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सुको उनकी देखभालमें नियुक्त कर वे अपने चारों भाई तथा द्रौपदीको साथ लेकर हस्तिनापुरसे चल पड़े। पृथ्वी-प्रदक्षिणाके उद्देश्यसे कई देशोंमें घूमते हुए वे हिमालयको पारकर मेरुपर्वतकी ओर बढ़ रहे थे। रास्तेमें देवी द्रौपदी तथा इनके चारों भाई एक-एक करके क्रमशः गिरते गये। इनके गिरनेकी भी परवा न कर युधिष्ठिर आगे बढ़ते ही गये। इतनेमें ही स्वयं देवराज इन्द्र रथपर चढ़कर इन्हें लेनेके लिये आये और इन्हें रथपर चढ़ जानेको कहा। युधिष्ठिरने अपने भाइयों तथा पतिप्राणा देवी द्रौपदीके बिना अकेले रथपर बैठना स्वीकार नहीं किया। इन्द्रके यह विश्वास दिलानेपर कि 'वे लोग तुमसे पहले ही स्वर्गमें पहुँच चुके हैं,' इन्होंने रथपर चढ़ना स्वीकार किया। परंतु इनके साथ एक कुत्ता भी था, जो शुरूसे ही इनके साथ चल रहा था। युधिष्ठिरने चाहा कि वह कुत्ता भी उनके साथ चले। इन्द्रके आपत्ति करनेपर इन्होंने उनसे साफ कह दिया कि 'इस स्वामिभक्त कुत्तेको छोड़कर मैं अकेला स्वर्ग जानेके लिये तैयार नहीं हूँ।' यह कुत्ता और कोई नहीं था, स्वयं धर्म ही युधिष्ठिरकी परीक्षाके लिये उनके साथ हो लिये थे। युधिष्ठिरकी इस अनुपम शरणागतवत्सलताको देखकर वे अपने असली रूपमें प्रकट हो गये और युधिष्ठिरको रथमें बिठाकर इन्द्र एवं अन्य देवताओं तथा देवर्षियोंके साथ ऊपरके लोकोंमें चले गये। उस समय देवर्षि नारदने उनकी प्रशंसा करते हुए कहा कि महाराज युधिष्ठिरसे पहले कोई भौतिक शरीरसे स्वर्ग गया हो ऐसा सुननेमें नहीं आया। ऊपर जाते हुए युधिष्ठिरने नक्षत्रों एवं तारोंको देवताओंके लोकोंके रूपमें देखा। फिर भी देवराज इन्द्रसे उन्होंने यही कहा कि 'जहाँ मेरे भाई-बन्धु

महाबली भीमसेन

तथा देवी द्रौपदी हों, वहीं मुझे ले चलिये; वहीं जानेपर मुझे शान्ति मिलेगी, अन्यत्र नहीं । जहाँ मेरे भाई नहीं हैं, वह स्वर्ग भी मेरे किस कामका !' धन्य बन्धु-प्रेम !

आगे जाकर जब देवराज इन्द्रकी मायासे इन्हें नरकका दृश्य दिखायी पड़ा और वहाँ इन्होंने अपने भाइयोंके कराहने एवं रोनेकी आवाज सुनी, साथ ही इन्होंने लोगोंको यह कहते भी सुना कि 'महाराज ! थोड़ा रुक जाइये, आपके यहाँ रहनेसे हमें नरककी पीड़ा नहीं सताती', तब तो ये वहीं रुक गये और जो देवदूत उन्हें वहाँ ले आया था, उससे इन्होंने कहा कि 'हम तो यहीं रहेंगे; जब हमारे रहनेसे यहाँके जीवोंको सुख मिलता है तो यह नरक ही हमारे लिये स्वर्गसे बढ़कर है ।' धन्य दयालुता !

थोड़ी ही देर बाद वह दृश्य गायब हो गया और वहाँ इन्द्र, धर्म आदि देवता आ पहुँचे । वे सब इनके इस सुन्दर भावसे बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने बतलाया कि 'तुमने छलसे गुरु द्रोणाचार्यको उनके पुत्रकी मृत्युका विश्वास दिलाया था, इसीलिये तुम्हें छलसे नरकका दृश्य दिखाया गया । तुम्हारे सब भाई दिव्यलोकमें पहुँच गये हैं ।' इसके बाद युधिष्ठिर भगवान्‌के परमधाममें गये और वहाँ इन्होंने भगवान् श्रीकृष्णके उसी रूपमें दर्शन किये, जिस रूपमें वे पहले उन्हें मर्त्यलोकमें देखते आये थे । वहीं उन्होंने श्रीकृष्णकी परिचर्या करते हुए अर्जुनको भी देखा । अपने भाइयों तथा देवी द्रौपदीको भी उन्होंने दूसरे-दूसरे स्थानोंमें देखा । अन्तमें वे अपने पिता धर्मके शरीरमें प्रविष्ट हो गये । इस प्रकार युधिष्ठिरने अपने धर्मके बलसे दुर्लभ गति पायी ।

युधिष्ठिरकी पवित्रताका ऐसा अद्भुत प्रभाव था कि वे जहाँ जाते, वहाँका वातावरण अत्यन्त पवित्र हो जाता था । जिस समय पाण्डव अज्ञातरूपसे राजा विराटके यहाँ रह रहे थे, उस समय कौरवोंने इनका पता लगाना चाहा । उसी प्रसङ्गमें भीष्मपितामहने, जो पाण्डवोंके प्रभावको भलीभाँति जानते थे, उन्हें बतलाया कि 'राजा युधिष्ठिर जिस नगर या राष्ट्रमें होंगे, वहाँकी जनता भी दानशील, प्रियवादिनी, जितेन्द्रिय और लज्जाशील होगी । जहाँ वे रहते होंगे, वहाँके लोग संयमी, सत्यपरायण तथा धर्ममें तत्पर होंगे; उनमें ईर्ष्या, अभिमान, मत्सर आदि दोष नहीं होंगे । वहाँ हर समय वेदध्वनि होती होगी, यज्ञ होते होंगे, ठीक समयपर वर्षा होती होगी, वहाँकी भूमि धन-धान्यपूर्ण तथा सब प्रकारके भयों एवं उपद्रवोंसे शून्य होगी, वहाँ गायें अधिक एवं हृष्ट-पुष्ट होंगी' इत्यादि । यही नहीं, हम ऊपर देख ही चुके हैं कि उनकी संनिधिसे नरकके प्राणियोंतकको सुख-शान्ति मिलती थी । राजा नहुषने, जिन्हें महर्षि अगस्त्यके शापसे अजगरकी योनि प्राप्त हुई थी और जिन्होंने उसी रूपमें भीमसेनको अपने चंगुलमें फँसा लिया था, युधिष्ठिरके दर्शन तथा उनके साथ सम्भाषण करने मात्रसे अजगरकी योनिसे छूटकर पुनः स्वर्ग प्राप्त किया । ऐसे पुण्यश्लोक युधिष्ठिरके पावन चरित्रका जितना ही मनन किया जायगा, उतनी ही पवित्रता प्राप्त होगी ।

'धर्मो विवर्धति युधिष्ठिरकीर्तनेन ।'

महाबली भीमसेन

महाभारतके प्रमुख पात्रोंमें भीमसेन भी अपने ढंगके अद्वितीय योद्धा थे । परम पराक्रमी भीमसेनका जन्म वायुदेवसे हुआ था । अतएव वे देवपुत्र थे । वायुदेवके अवतार थे । उनके जन्मके समय आकाशवाणी हुई थी कि यह कुमार समस्त बलवानोंमें श्रेष्ठ होगा । वस्तुतः शारीरिक बलमें भीमसेन अपने युगके सर्वश्रेष्ठ योद्धा हुए । बचपनमें वे दौड़ने, खेल-कूद करने, खान-पान तथा नाना प्रकारकी बालक्रीडाओंमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका मानमर्दन किया करते थे । परंतु ऐसा वह बालस्वभावके कारण ही करते थे, धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे उन्हें द्वेष न था । किंतु उनकी ये बालक्रीडाएँ दुर्योधनको बहुत खलतीं । वे बराबर भीमसेनका अनिष्ट सोचा करते थे । एक दिन दुर्योधनने सोचा कि भीमको किसी प्रकार धोखेसे गङ्गामें डुबो दें और युधिष्ठिर तथा अर्जुनको कैद करके निष्कण्टक राज्य करें । इस दुरभिसन्धिको पूरा करनेकी उन्होंने सारी योजना बना डाली, तथा जलक्रीडाके लिये पाण्डवोंको साथ लेकर गङ्गा-तटपर गये । उन्होंने भोजनमें कालकूट विष मिलाकर पर्याप्त मात्रामें भीमसेनको खिला दिया । भीमसेनपर धीरे-धीरे विषका प्रभाव बढ़ने लगा और वे अचेत होने लगे । तब दुर्योधनने उनको वृक्षकी लताओंसे बाँधा, और गङ्गाजीके ऊँचे तटसे जलमें ढकेल दिया । भीमसेन बेहोशीकी दशामें जलमें डूबकर नागलोकमें जा पहुँचे । वहाँ नागोंने उनको खूब डँसा, जिससे कालकूट विषका प्रभाव नष्ट हो गया । तब भीमसेन होशमें आ गये और अपने बन्धनको तोड़कर सर्पोंको मारने लगे । सर्प भयके मारे नागराज वासुकिके पास गये और उनसे भीमसेनकी शिकायत की । तब नागराज वासुकि और नागराज आर्यक दोनों भीमसेनको देखनेके लिये चले । आर्यक पृथाके पिता शूरसेनके नाना थे । उन्होंने अपने दौहित्रके दौहित्र भीमसेनको पहचानकर छातीसे लगा लिया । नागराज वासुकि भी भीमसेनपर बहुत प्रसन्न हुए और बोले कि 'इनका कौन-सा प्रिय कार्य किया जाय?' आर्यकने कहा—'नागराज ! यदि आप संतुष्ट हैं तो इस बालकको उस कुण्डका अमृत-रस पिलाइये, जिससे एक हजार हाथियोंका बल प्राप्त होता है ।'

तब नागोंने भीमसेनके लिये स्वस्तिवाचन किया। उसके बाद वे उस कुण्डका रस पीने लगे और एक-एक करके आठ कुण्डोंका रस पी लिया और तत्पश्चात् नागोंकी दी हुई दिव्य शय्यापर सो गये। आठ दिनके बाद जब वह रस पच गया, तब वे जगे। उस समय उनको अपरिमित बल प्राप्त हो गया था। उनको जगा हुआ देखकर नागोंने आश्वासन देते हुए कहा—

यत् ते पीतो महाबाहो रसोऽयं वीर्यसम्भृतः।
तस्मान्नागायुतबलो रणेऽधृष्यो भविष्यति॥

'हे महाबाहो! तुमने जो यह शक्तिपूर्ण रस पीया है, इसके कारण तुम्हारा बल दस हजार हाथियोंके बराबर होगा, और तुम युद्धमें अजेय हो जाओगे।'

× × ×

भीमसेनमें अपरिमित बल हो जानेके पश्चात् गर्वका बढ़ जाना स्वाभाविक था। अब वे और अधिक धृतराष्ट्रके पुत्रोंके लिये दुःखदायी बन गये। जब दुर्योधनने कर्णको अङ्गराजका राजा बनाया और उसी अवसरपर उसके पिता अधिरथने वहाँ पहुँचकर 'बेटा, बेटा' पुकारते हुए आनन्दसे कर्णको हृदयसे लगाया, तो भीमसेनसे रहा न गया। वे अर्जुनके साथ युद्धके लिये तैयार कर्णसे कह उठे—'अरे सूतपुत्र! तू तो अर्जुनके हाथसे मरने योग्य भी नहीं है। तुझे तो शीघ्र ही चाबुक हाथमें लेनी चाहिये; क्योंकि यही तेरे कुलके अनुरूप है।'

भीमसेनकी यह विशेषता थी कि ये जहाँ कहीं अन्याय होता देखते, वहाँ उसके प्रतिकारके लिये तुरंत तैयार हो जाते थे। परंतु वे अपने बड़े भाई युधिष्ठिरके बड़े आज्ञाकारी थे। कोई भी काम उनकी मर्जीके बिना नहीं करते। दस हजार हाथियोंका बल रखते हुए भी भीमसेन अपने बड़े भाईके इशारेपर नाचते थे। जब कोई बड़ा काम आ जाता, जिसको पूरा करनेके लिये बलकी आवश्यकता होती, वहाँ भीमसेन तैयार रहते थे। कौरवोंके अत्याचारोंको ये इसलिये सह लेते थे कि ऐसी ही उनके बड़े भाईकी मर्जी थी। महाबलवान् होनेके कारण भीमसेन अपनी माता और भाइयोंके बहुत काम आते थे। वारणावतके लाक्षागृहसे निकलनेके बाद घने जंगलमें इनकी जब हिडिम्ब राक्षससे मुठभेड़ हुई तो भीमसेनने ही उसे पछाड़कर मार डाला।

इसी प्रकार एकचक्रा नगरीमें जब पाण्डवलोग एक ब्राह्मणके घर रहते थे, उस समय पाँचों भाई भिक्षाटन करके भिक्षान्न लाकर माताको समर्पित करके उनकी आज्ञासे बाँटकर भोजन करते थे। एक दिन चारों भाई भीमसेनको माताके पास छोड़कर भिक्षाके लिये चले गये। उस दिन उस ब्राह्मणके घरमें रोना-पीटना मच गया। यह सुनकर भीमसेनने माता कुन्तीसे कहा—

ज्ञायतामस्य यद्दुःखं यतश्चैव समुत्थितम्।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम्॥
(आदिपर्व १५६।१६)

'माँ! पहले यह पता लगाओ कि इस ब्राह्मणको क्या दुःख है, और वह कैसे प्राप्त हुआ है। जान लेनेपर अत्यन्त दुष्कर होनेपर भी उसको दूर करनेकी चेष्टा करूँगा।' भीमसेनके इस वाक्यसे उनकी पर-दुःखकातरता, ब्राह्मणके प्रति भक्ति-भावना आदिका उज्ज्वल प्रमाण मिलता है। पश्चात् माताकी आज्ञासे भीमसेनने वनमें जाकर बकासुरका वध करके उस ब्राह्मण-परिवारकी विपत्ति दूर की, तथा साथ ही उस राज्यके निवासियोंके कष्टको सदाके लिये दूर कर दिया। इस प्रकार अपने जीवनको खतरेमें डालकर भी दूसरोंका कल्याण करना भीमसेनका सहज स्वभाव था। बकासुरके मरनेके बाद वहाँ राक्षसोंकी बाधा सदाके लिये दूर हो गयी।

भीमसेनमें युद्धप्रियता पहले दर्जेकी थी। ये सीधे युद्धके द्वारा न्यायका समर्थन करना चाहते थे, अन्यायके विरुद्ध तत्काल कमर कसकर तैयार हो जाते थे। क्षात्रधर्मकी मूर्ति थे। अकारण किसीको संताप देनेवाले नहीं थे, और न किसीका वध ही करते थे। द्रौपदीके स्वयंवरके अवसरपर ब्राह्मणवेषधारी भीमसेनने मल्लयुद्धमें जब शल्यको पछाड़ दिया और जानसे नहीं मारा तो दर्शकगण देखकर आश्चर्य करने लगे।

तत्राश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः।
यच्छल्यं पातितं भूमौ नावधीद् बलिनं बली॥
(आदि० १८९।२९)

वहाँ ब्राह्मणलोग भीमसेनके इस अपूर्व पराक्रम और शल्यके ऊपर प्रदर्शित उनकी उदारताको देखकर हँसने लगे।

द्रौपदीके साथ छेड़खानी करनेवाले कीचक तथा उसके परिवारके एक सौ महाबली कीचकोंका वध करके भीमसेनने विराटकी प्रजाको उनके अत्याचारसे मुक्त किया था।

भीमसेन वीरताकी प्रतिमूर्ति थे। जब उनसे कभी यह कहा जाता कि इस दुष्कर कार्यको भीम ही कर सकते हैं तो उनके उत्साहका ठिकाना नहीं रहता। उनके इस अपूर्व उत्साहको देखकर बहुधा युधिष्ठिरको आशङ्का हो जाती थी। इसी कारण जब जरासंधका वध भीमसेन करेंगे, यह प्रस्ताव भगवान् श्रीकृष्णने किया तो युधिष्ठिर जरासंधकी अजेय सैन्यशक्तिका विचार करके शङ्कित हो उठे। तब भीमसेन उत्साहप्रद तथा नीतिगर्भित वचन बोले—

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति।
दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति॥
(सभापर्व १५।११)

अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम्।
जयेत्सम्यक् प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान्॥
(१५।१२)

'महाराज! जो राजा उद्योग नहीं करता तथा दुर्बल होकर भी बिना उपाय किये बलवान्से भिड़ जाता है, वे दोनों वल्मीकके समान सहज ही नष्ट हो जाते हैं। परंतु जो आलस्य छोड़कर उत्तम युक्ति और नीतिसे काम लेता है, वह दुर्बल होनेपर भी बलवान् शत्रुको जीत लेता है, और अपना कल्याणसाधन करता है।' भीमसेनकी इस युक्तिसे यह सिद्ध होता है कि वे केवल अद्भुत वीर और योद्धा ही नहीं थे, बल्कि नीतिशास्त्रके भी अच्छे ज्ञाता थे। अतएव भगवान् श्रीकृष्णके परामर्शसे मगधमें भीमसेन और जरासंधका मल्लयुद्ध शुरू हो गया। अन्तमें भगवान्ने एक सरकंडा लेकर उसे चीरकर दोनों ओर फेंकते हुए भीमसेनको उसी प्रकार करनेका संकेत दिया। भीमसेनने संकेत पा जरासंधकी दोनों टाँगें पकड़ लीं और उसे दो हिस्सोंमें चीरकर विपरीत दिशाओंमें फेंककर मार डाला। इस प्रकार भारतके उस कालके सबसे शक्तिशाली राजा जरासंधका नाश भीमसेनके ही द्वारा हुआ।

भीमसेनकी नीतिज्ञताका पता उस समय चलता है, जब भगवान् श्रीकृष्ण संधिका प्रस्ताव लेकर कौरव-सभाके लिये प्रस्थान करते हैं। भीमसेन कहते हैं, 'हे मधुसूदन! कौरवोंके बीचमें आप ऐसी बातें करें जिनसे शान्ति स्थापित हो जाय। दुर्योधन स्वभावसे ही दुरात्मा है, दुराग्रही है। वह मर जायगा, पर झुकेगा नहीं। अतएव आप उससे जो कुछ भी कहें, कोमल और मधुर वाणीमें धीरे-धीरे कहें। आपका कथन धर्म और अर्थसे युक्त तथा कल्याणकारी हो। उसमें तनिक भी उग्रता न आने पावे। साथ ही यह भी ध्यान रक्खें कि आपकी अधिकांश बातें उसकी रुचिके अनुकूल हों। श्रीकृष्ण! आप वहाँ बूढ़े पितामह भीष्मजी तथा अन्य सभासदोंको ऐसा करनेके लिये कहें, जिससे हम सब भाइयोंमें सौहार्द बना रहे, और दुर्योधन भी शान्त हो जाय।'—शान्तिप्रियताके भावोंसे भरे हुए इन शब्दोंसे भीमसेनके हृदयकी विशालताका सहज ही अनुमान हो जाता है। अन्तमें अपने कथनको समाप्त करते हुए वे कहते हैं—

अहमेतद् ब्रवीम्येवं राजा चैव प्रशंसति।
अर्जुनो नैव युद्धार्थी भूयसी हि दयार्जुने॥
(उद्योग० ७४।२३)

'मैं इस प्रकार शान्ति-स्थापनकी बात कह रहा हूँ। युधिष्ठिर भी शान्तिकी ही प्रशंसा करते हैं, और अर्जुन भी युद्धके इच्छुक नहीं हैं; क्योंकि अर्जुनके हृदयमें बड़ी दया भरी हुई है।' इस वचनसे स्पष्ट हो जाता है कि भीमसेन जितने अधिक शक्तिसम्पन्न पुरुष थे, उतनी ही अधिक उनके हृदयमें दया भरी थी।

द्रौपदीके चीरहरणके प्रसङ्गमें कौरव-सभामें दुःशासनके दुष्कृत्यको देखकर महाराज युधिष्ठिरके वहाँ रहते ही आपेसे बाहर होकर भीमसेनने सब कौरवोंको युद्धमें मार डालने तथा दुःशासनको मारकर उसके वक्षःस्थलको फाड़कर रक्त पान करनेकी प्रतिज्ञा कर डाली। और इस प्रतिज्ञाको उन्होंने पूरा किया।

भीमसेनमें वीरत्वका गर्व था। इसलिये कभी-कभी वे उद्धत भी हो जाते थे। महाभारतके युद्धमें जब अश्वत्थामाने नारायणास्त्रका प्रयोग किया तो भगवान् श्रीकृष्णने सबको कह दिया कि इस दिव्यास्त्रसे बचनेका एकमात्र यही उपाय है कि हाथसे हथियार डालकर अपने वाहनोंसे नीचे उतर जाओ। भगवान् वासुदेवकी इस बातको सुन सब लोगोंने तदनुसार आचरण किया, परंतु भीमसेन न माने। वे अर्जुन और श्रीकृष्णकी अवहेलना करके आगे बढ़े। नारायणास्त्रके सामने धृष्टता करना महा अनर्थप्रद है, यह सोचकर भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने उनको बलपूर्वक रथसे उतारा।

धृतराष्ट्रके मुखसे भीमसेनके गुणोंका वर्णन ध्यान देने योग्य है—

नहि तस्य महाबाहो शक्रप्रतिमतेजसः।
सैन्येऽस्मिन् प्रतिपश्यामि य एनं विषहेद् युधि॥
अस्त्रे द्रोणार्जुनसमं वायुवेगसमं जवे।
महेश्वरसमं क्रोधे को हन्याद् भीममाहवे॥
येन भीमबला यक्षा राक्षसाश्च पुरा हताः।
कथं तस्य रणे वेगं मानुषः प्रसहिष्यसि॥
(उद्योगपर्व अ० ५१)

'महाबाहु भीम इन्द्रके समान तेजस्वी है। मैं अपनी सेनामें किसीको नहीं देखता, जो युद्धमें उसका सामना कर सके। वह अस्त्रविद्यामें द्रोण और अर्जुनके समान, वेगमें वायुके समान और क्रोधमें महेश्वरके तुल्य है। ऐसे भीमको युद्धमें कौन मार सकता है? जिसने पूर्वकालमें भयङ्कर बलशाली यक्ष-राक्षसोंका वध किया है, युद्धमें उसका वेग कोई मनुष्य कैसे सहन कर सकता है।' धृतराष्ट्रका कथन सर्वथा सत्य है। भीमसेन अद्वितीय योद्धा थे, और महाभारतके युद्धमें उन्होंने खूब पराक्रम दिखलाया। अन्तमें दुर्योधनको मल्लयुद्धमें पछाड़कर पाण्डवोंके लिये उन्होंने विजयश्री प्राप्त की।

श्रीकृष्णसखा अर्जुन

अर्जुन साक्षात् नर-ऋषिके अवतार थे। ये भगवान् श्रीकृष्णके परम भक्त, सखा एवं प्रेमी थे तथा उनके हाथके एक उत्तम यन्त्र थे। इनको निमित्त बनाकर भगवान्ने महाभारत-युद्धमें बड़े-बड़े योद्धाओंका संहार किया और इस प्रकार अपने अवतारके अन्यतम उद्देश्य भूभारहरणको सिद्ध किया। इस बातको स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने गीताके विश्व-रूपदर्शनके प्रसङ्गमें यह कहते हुए स्वीकार किया है कि 'ये सब तुम्हारे शत्रु मेरेद्वारा पहले ही मारे जा चुके हैं, तुम्हें इनके वधमें केवल निमित्त बनना होगा' (११ । ३३)। इनकी भक्ति तथा मित्रताको भी भगवान्ने गीतामें ही 'भक्तोऽसि मे सखा चेति,' 'इष्टोऽसि मे दृढमिति' आदि शब्दोंमें स्वीकार किया है। जिसे स्वयं भगवान् अपना भक्त और प्यारा मानें और उद्घोषित करें, उसके भक्त होनेमें दूसरे किसी प्रमाणकी क्या आवश्यकता है। गीताके अन्तमें 'करिष्ये वचनं तव' यह कहकर अर्जुनने स्वयं भगवान्के हाथका यन्त्र बननेकी प्रतिज्ञा की है और महाभारतके अनु-शीलनसे इस बातका पर्याप्त प्रमाण भी मिलता है कि उन्होंने अन्ततक इस प्रतिज्ञाका भलीभाँति निर्वाह किया। गीतासे ही इस बातका भी प्रमाण मिलता है कि ये भगवान्को अपना सखा मानते थे और उनके साथ बराबरीका नाता भी रखते थे। श्रीकृष्ण और अर्जुन अनेकों बार भिन्न-भिन्न अवसरोंपर एवं भिन्न-भिन्न स्थानोंमें महीनों साथ रहे थे और ऐसे अवसरों-पर स्वाभाविक ही उनका उठना-बैठना, खाना-पीना, घूमना-फिरना, सोना-लेटना साथ ही होता था और ऐसी स्थितिमें उनमें परस्पर किसी प्रकारका संकोच नहीं रह गया था। दोनोंका एक-दूसरेके साथ खुला व्यवहार था, अभिन्नहृदयता थी। दोनोंका एक-दूसरेके अन्तःपुरमें भी निःसंकोच आना-जाना, उठना-बैठना होता था, एक दूसरेसे किसी प्रकारका पर्दा नहीं था। इन दोनोंमें कैसा प्रेम था, इसका वर्णन संजयने धृतराष्ट्रको पाण्डवोंका संदेश कहते समय सुनाया था। युद्धके पूर्व जब संजय कौरवोंका संदेश लेकर उपप्लव्यमें पाण्डवोंके पास गये, उस समय श्रीकृष्ण और अर्जुनको उन्होंने किस अवस्थामें देखा, इसका वर्णन करते हुए संजय कहते हैं—'महाराज! आपका संदेश सुनानेके लिये मैं अर्जुनके अन्तःपुरमें गया। उस स्थानमें अभिमन्यु और नकुल-सहदेव भी नहीं जा सकते थे। वहाँ पहुँचनेपर मैंने देखा कि श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रक्खे हुए हैं तथा अर्जुनके चरण द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं' इत्यादि।

× × ×

जब पाण्डव जुएकी शर्तके अनुसार वनमें चले जाते हैं, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण उनसे मिलनेके लिये आते हैं। उस समय वे अर्जुनके साथ अपनी अभिन्नताका उल्लेख करते हुए कहते हैं—'अर्जुन! तुम एकमात्र मेरे हो और मैं एक-मात्र तुम्हारा हूँ। जो मेरे हैं, वे तुम्हारे हैं और जो तुम्हारे हैं, वे मेरे हैं। जो तुमसे द्वेष करता है, वह मुझसे द्वेष करता है और जो तुम्हारा प्रेमी है, वह मेरा प्रेमी है। तुम नर हो और मैं नारायण। तुम मुझसे अभिन्न हो और मैं तुमसे। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है, हम दोनों एक हैं।' अर्जुन श्रीकृष्णको कितने प्रिय थे तथा दोनोंमें कैसी अभिन्नता थी—इसका प्रमाण महाभारतकी कई घटनाओंसे मिलता है। जब अर्जुन अपने वनवासके समय तीर्थयात्राके प्रसङ्गसे प्रभासक्षेत्रमें पहुँचते हैं तो भगवान् श्रीकृष्ण उनका समाचार पाते ही उनसे मिलनेके लिये द्वारकासे प्रभासक्षेत्रको जाते हैं और वहाँसे उन्हें रैवतक पर्वतपर ले आकर कई दिन उनके साथ वहीं बिताते हैं। रैवतक पर्वतसे दोनों द्वारका चले आते हैं और द्वारकामें अर्जुन श्रीकृष्णके ही महलोंमें कई दिनोंतक उनके प्रिय अतिथिके रूपमें रहते हैं और रातको दोनों साथ सोते हैं। वहाँ जब श्रीकृष्णको पता चलता है कि अर्जुन उनकी बहिन सुभद्रासे विवाह करना चाहते हैं तो वे उनके बिना पूछे ही इसके लिये अनुमति दे देते हैं और उसे हरकर ले जानेकी युक्ति भी बतला देते हैं। इतना ही नहीं, अपना रथ और हथियार भी उन्हें दे देते हैं। एवं सुभद्राहरण हो जानेके बाद जब बलरामजी इसका विरोध करते हैं तो वे उन्हें समझा-बुझाकर मना लेते हैं और वहीं द्वारकामें सुभद्राका पाणिग्रहण हो जाता है। यही नहीं, खाण्डवदाहके प्रसङ्गमें भगवान् श्रीकृष्ण इन्द्रसे यह वरदान माँगते हैं कि उनकी अर्जुनके साथ मित्रता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाय। खाण्डव-दाहके प्रसङ्गमें ही अर्जुन और श्रीकृष्णकी अभिन्नताका एक और प्रमाण मिलता है। खाण्डववनके भयङ्कर अग्निकाण्डमेंसे मय दानव निकल भागनेकी चेष्टा कर रहा था। अग्निदेव मूर्तिमान् होकर उसे जला डालनेके लिये उसके पीछे दौड़ रहे थे। उनकी सहायताके लिये भगवान् श्रीकृष्ण भी अपना चक्र लिये उसे मारनेको प्रस्तुत थे। मय दानवने अपने बचनेका कोई उपाय न देखकर अर्जुनकी शरण ली और अर्जुनने उसे अभयदान दे दिया। अब तो श्रीकृष्णने भी अपना चक्र वापस ले लिया और अग्निदेवने भी उसका पीछा करना छोड़ दिया। मय दानवके प्राण बच गये। मय दानवने इस उपकारके बदलेमें अर्जुनकी कुछ सेवा करनी चाही। अर्जुनने कहा—'तुम श्रीकृष्णकी सेवा कर दो, इसीसे मेरी सेवा हो जायगी।' मय दानव बड़ा निपुण शिल्पी था। श्रीकृष्णने उससे महाराज युधिष्ठिरके लिये एक बड़ा सुन्दर सभाभवन तैयार करवाया। इस प्रकार अर्जुन और श्रीकृष्ण सदा एक दूसरेका प्रिय करते रहते थे।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुनको प्यार करते थे, उसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णको अपना परम आत्मीय एवं हितू समझते थे। यही कारण था कि उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी एक

अरब नारायणी सेनाको न लेकर अकेले और निहत्थे श्रीकृष्ण-को ही सहायकके रूपमें वरण किया। जहाँ भगवान् एवं उनके ऐश्वर्यका मुकाबला होता है, वहाँ सच्चे भक्त ऐश्वर्यको त्यागकर भगवान्का ही वरण करते हैं। श्रीकृष्णने भी उनके प्रेमके वशीभूत होकर युद्धमें उनका सारथ्य करना स्वीकार किया। अर्जुन साथ-ही-साथ अपने जीवनरूप रथकी बागडोर भी उन्हींके हाथोंमें सौंपकर सदाके लिये निश्चिन्त हो गये। फिर तो अर्जुनकी विजय और रक्षा—योग और क्षेम—दोनोंकी चिन्ता सर्वसमर्थ श्रीकृष्णके कंधोंपर चली गयी। उनकी तो यह प्रतिज्ञा ही ठहरी कि जो कोई अनन्यभावसे उनका चिन्तन करते हुए अपनी सारी चिन्ताएँ उन्हींपर डाल देते हैं, उनके योगक्षेमका भार वे अपने कंधोंपर ले लेते हैं। कोई भी अपना भार उनके ऊपर डालकर देख ले।

बस, फिर क्या था। अब तो अर्जुनको जिताने और भीष्म-जैसे दुर्दान्त पराक्रमी वीरोंसे उनकी रक्षा करनेका सारा भार श्रीकृष्णपर आ गया। वैसे विजय तो पाण्डवोंकी पहलेसे ही निश्चित थी; क्योंकि धर्म उनके साथ था। जिस ओर धर्म, उस ओर श्रीकृष्ण और जिस ओर श्रीकृष्ण उस ओर विजय—यह तो सदाका नियम है। फिर तो युद्धके प्रारम्भमें शत्रुओंको पराजित करनेके लिये अर्जुनसे रणचण्डीका आवाहन एवं स्तवन कराना तथा प्रत्यक्ष दर्शन कराके विजयके लिये उनका आशीर्वाद प्राप्त कराना, भगवद्गीताके उपदेश तथा विश्वरूपदर्शनके द्वारा उनके मोहका निरास करना, युद्धमें शस्त्र न लेनेकी प्रतिज्ञाकी परवा न कर भीष्मकी प्रचण्ड बाणवर्षाको रोकनेमें असमर्थ अर्जुनकी प्राणरक्षाके लिये एक बार चक्र लेकर तथा दूसरी बार चाबुक लेकर भीष्मके सामने दौड़ना, भगदत्तके छोड़े हुए सर्वसंहारक वैष्णवास्त्रको अपनी छातीपर ले लेना, रथको पैरोंसे दबाकर कर्णके छोड़े हुए सर्पमुख बाणसे अर्जुनकी रक्षा करना तथा अस्त्रोंसे जले हुए अर्जुनके रथको अपने संकल्पके द्वारा कायम रखना आदि अनेकों लीलाएँ श्रीकृष्णने अर्जुनके योगक्षेमके निर्वाहके लिये कीं।

× × ×

भीष्मको पाण्डवोंसे लड़ते-लड़ते नौ दिन हो गये थे। फिर भी उनके पराक्रममें किसी प्रकारकी शिथिलता नहीं आ पायी थी। प्रतिदिन वे पाण्डव-पक्षके हजारों वीरोंका संहार कर रहे थे। उनपर विजय पानेका पाण्डवोंको कोई मार्ग नहीं सूझ रहा था। महाराज युधिष्ठिरने बड़े ही करुणापूर्ण शब्दोंमें सारी परिस्थिति अपनी नौकाके कर्णधार श्रीकृष्णके सामने रक्खी। श्रीकृष्णने उन्हें सान्त्वना देते हुए जो कुछ कहा, उससे उनका अर्जुनके प्रति असाधारण प्रेम प्रकट होता है। साथ ही अर्जुनके सम्बन्धमें उनकी कैसी ऊँची धारणा थी, इसका भी पता लगता है। श्रीकृष्ण बोले—'धर्मराज! आप बिल्कुल चिन्ता न करें। भीष्मके मारे जानेपर ही यदि आपको विजय दिखायी देती हो तो मैं अकेले ही उन्हें मार सकता हूँ। आपके भाई अर्जुन मेरे सखा, सम्बन्धी तथा शिष्य हैं; आवश्यकता हो तो मैं इनके लिये अपने शरीरका मांस भी काटकर दे सकता हूँ और ये भी मेरे लिये प्राण त्याग सकते हैं। अर्जुनने उपप्लव्यमें सबके सामने भीष्मको मारनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसकी मुझे हर तरहसे रक्षा करनी है। जिस कामके लिये अर्जुन मुझे आज्ञा दें, उसे मुझे अवश्य करना चाहिये। अथवा भीष्मको मारना अर्जुनके लिये कौन बड़ी बात है। राजन्! यदि अर्जुन तैयार हो जायँ तो वे असम्भव कार्य भी कर सकते हैं। दैत्य एवं दानवोंके साथ सम्पूर्ण देवता भी युद्ध करने आ जायँ तो अर्जुन उन्हें भी परास्त कर सकते हैं; फिर भीष्मकी तो बात ही क्या है।' सच है, 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' समर्थ भगवान् जिसके रक्षक एवं सहायक हों, वह क्या नहीं कर सकता।

× × ×

पुत्रशोकसे पीड़ित अर्जुन अभिमन्युकी मृत्युका प्रधान कारण जयद्रथको समझकर दूसरे दिन सूर्यास्तसे पहले-पहले जयद्रथको मार डालनेकी प्रतिज्ञा कर बैठते हैं और साथ ही यह भी प्रतिज्ञा कर लेते हैं कि 'ऐसा न कर सका तो मैं स्वयं जलती हुई आगमें कूद पड़ूँगा।' 'योगक्षेमं वहाम्यहम्' इस वचनके अनुसार अर्जुनकी इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेका भार भी श्रीकृष्णपर आ पड़ा था। अर्जुन तो उनके भरोसे निश्चिन्त थे। इधर कौरवोंकी ओरसे जयद्रथको बचानेकी पूरी चेष्टा हो रही थी। उसी दिन श्रीकृष्ण आधी रातके समय ही जाग पड़े और सारथि दारुकको बुलाकर कहने लगे—'दारुक! मेरे लिये स्त्री, मित्र अथवा भाई-बन्धु—कोई भी अर्जुनसे बढ़कर प्रिय नहीं है। इस संसारको अर्जुनके बिना मैं एक क्षण भी नहीं देख सकता। ऐसा हो ही नहीं सकता। कल सारी दुनिया इस बातका परिचय पा जायगी कि मैं अर्जुनका मित्र हूँ। जो उनसे द्वेष रखता है, वह मेरा भी द्वेषी है; जो उनके अनुकूल है, वह मेरे भी अनुकूल है। तुम अपनी बुद्धिमें इस बातका निश्चय कर लो कि अर्जुन मेरा आधा शरीर है। मेरा विश्वास है कि अर्जुन कल जिस-जिस वीरको मारनेका प्रयत्न करेंगे, वहाँ-वहाँ अवश्य उनकी विजय होगी।' भला, ऐसे मित्रवत्सल प्रभु जिसके लिये इस प्रकार उद्यत हों, उसकी विजयमें क्या संदेह हो सकता है। दूसरे दिन श्रीकृष्णकी बतायी हुई युक्तिसे जयद्रथको मारकर अर्जुनने अपनी प्रतिज्ञा पूरी की और सारे संसारने देखा कि श्रीकृष्णकी कृपासे अर्जुनका बाल भी बाँका नहीं हुआ।

× × ×

कर्ण अर्जुनके साथ शुरूसे ही ईर्ष्या रखता था। दोनों एक दूसरेके प्राणोंके ग्राहक थे। भीष्मके मरणके बाद भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुनके लिये सबसे अधिक भय कर्णसे ही था।

उसके पास इन्द्रकी दी हुई एक अमोघ शक्ति थी, जिसे उसने अर्जुनको मारनेके लिये ही रख छोड़ा था। उस शक्तिके बलपर वह अर्जुनको मरा हुआ ही समझता था। उसका प्रयोग एक ही बार हो सकता था। कर्णको उस शक्तिसे हीन करनेके लिये भगवान्ने उसे भीमसेनके पुत्र घटोत्कचसे भिड़ा दिया। उसने ऐसा अद्भुत पराक्रम दिखाया कि कर्णके प्राणों-पर बन आयी। वह उसके प्रहारोंको नहीं सह सका। उसने बाध्य होकर वह इन्द्रदत्त शक्ति घटोत्कचपर छोड़ दी और उसने घटोत्कचका काम तमाम कर दिया। घटोत्कचके मारे जानेसे पाण्डवोंके शिविरमें शोक छा गया। सबकी आँखों-से आँसुओंकी धारा बहने लगी। परंतु इस घटनासे श्रीकृष्ण बड़े प्रसन्न हुए। वे हर्षसे झूमकर नाचने लगे। उन्होंने अर्जुनको गले लगाकर उनकी पीठ ठोंकी और बारंबार गर्जना की। अर्जुनने उनके बेमौके इस प्रकार आनन्द मनानेका रहस्य जानना चाहा; क्योंकि वे जानते थे कि भगवान्की कोई भी क्रिया अकारण नहीं होती। इसके उत्तर-में श्रीकृष्णने जो कुछ कहा, उससे उनका अर्जुनके प्रति अगाध प्रेम झलकता है। उन्होंने कहा—'अर्जुन! आज सचमुच मेरे लिये बड़े ही आनन्दका अवसर है। कारण जानना चाहते हो? सुनो। तुम समझते हो कर्णने घटोत्कचको मारा है; पर मैं कहता हूँ कि इन्द्रकी दी हुई शक्तिको निष्फल करके घटोत्कचने ही कर्णको मार डाला है; अब तुम कर्णको मरा हुआ ही समझो। कोई भी मनुष्य ऐसा नहीं है, जो कर्णके हाथमें शक्ति रहते उसके मुकाबलेमें ठहर सकता।' उन्होंने यह भी बतलाया कि 'मैंने तुम्हारे ही हितके लिये जरासंध, शिशुपाल आदिको एक-एक करके मरवा डाला। वे लोग यदि पहले न मारे गये होते, तो इस समय बड़े भयंकर सिद्ध होते। हमलोगोंसे द्वेष रखनेके कारण वे लोग अवश्य ही कौरवोंका पक्ष लेते और दुर्योधनका सहारा पाकर वे समस्त भूमण्डलको जीत लेते। उनके समान देव-द्रोहियोंका नाश करनेके लिये ही मेरा अवतार हुआ है।' इसी प्रसङ्गपर उन्होंने सात्यकिसे यह भी कहा कि 'कौरवपक्षके सब लोग कर्णको यही सलाह दिया करते थे कि वह अर्जुनके सिवा किसी दूसरेपर शक्तिका प्रयोग न करे और वह भी इसी विचारमें रहता था; परंतु मैं ही उसे मोहमें डाल देता था। यही कारण है कि उसने अर्जुनपर शक्तिका प्रहार नहीं किया। सात्यके! अर्जुनके लिये वह शक्ति मृत्युरूप है—यह सोच-सोचकर मुझे रातों नींद नहीं आती थी। आज वह घटोत्कचपर पड़नेसे व्यर्थ हो गयी—यह देखकर मैं ऐसा समझता हूँ कि अर्जुन मौतके मुँहसे छूट गये। मैं अर्जुनकी रक्षा करना जितना आवश्यक समझता हूँ, उतनी अपने माता-पिता, तुम-जैसे भाइयों तथा अपने प्राणोंकी भी रक्षा आवश्यक नहीं समझता। तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी यदि कोई दुर्लभ वस्तु हो, तो उसे भी मैं अर्जुनके बिना नहीं चाहता। इसीलिये आज अर्जुन मानो मरकर जी उठे हैं, ऐसा समझकर मुझे बड़ा आनन्द हो रहा है। इसीलिये इस रात्रिमें मैंने राक्षस घटोत्कचको ही कर्णसे लड़नेके लिये भेजा था; उसके सिवा दूसरा कोई कर्णको नहीं दबा सकता था।' भगवान्के इन वाक्योंसे स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन भगवान्को कितने प्रिय थे और उनकी वे कितनी सँभाल रखते थे। जो अपनेको भगवान्के हाथका यन्त्र बना देता है, उसकी भगवान् इसी प्रकार सँभाल रखते हैं और उसका बाल भी बाँका नहीं होने देते। ऐसे भक्तवत्सल प्रभुकी शरणको छोड़कर जो और-और सहारे ढूँढ़ते रहते हैं, उनके समान मूर्ख कौन होगा।

× × ×

द्रोणाचार्यके वधसे अमर्षित होकर वीर अश्वत्थामाने पाण्डवोंके प्रति आग्नेयास्त्रका प्रयोग किया। उसके छूटते ही आकाशसे बाणोंकी वर्षा होने लगी और सेनामें चारों ओर आग फैल गयी। अर्जुन अकेले एक अक्षौहिणी सेना लेकर अश्वत्थामाका मुकाबला कर रहे थे। उस अस्त्रके प्रभावसे उनकी सारी सेना इस प्रकार दग्ध हो गयी कि उसका नाम-निशानतक मिट गया; परंतु श्रीकृष्ण और अर्जुनके शरीरपर आँचतक नहीं आयी। इन दोनों महापुरुषोंको अस्त्रके प्रभावसे मुक्त देखकर अश्वत्थामा चकित और चिन्तित हो गया, अपने हाथका धनुष फेंककर वह रथसे कूद पड़ा और 'धिक्कार है, धिक्कार है' कहता हुआ रणभूमिसे भाग चला। इतनेमें ही उसे व्यासजी दिखायी दिये। उसने उन्हें प्रणाम किया और उस सर्वसंहारी अस्त्रका श्रीकृष्ण और अर्जुनपर कुछ भी प्रभाव न पड़नेका कारण पूछा। तब व्यासजीने उसे बताया कि 'श्रीकृष्ण नारायण ऋषिके अवतार हैं और अर्जुन नरके अवतार हैं। इनका प्रभाव भी नारायणके ही समान है। ये दोनों ऋषि संसारको धर्म-मर्यादामें रखनेके लिये प्रत्येक युगमें अवतार लेते हैं।' व्यासजीकी इन बातोंको सुनकर अश्वत्थामाकी शङ्का दूर हो गयी और उसकी अर्जुन और श्रीकृष्णमें महत्त्व-बुद्धि हो गयी। व्यासजीके इन वचनोंसे भी श्रीकृष्ण और अर्जुनकी अभिन्नता सिद्ध होती है।

अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके तो कृपापात्र थे ही, भगवान् शङ्करकी भी उनपर बड़ी कृपा थी। युद्धमें शत्रु-सेनाका संहार करते समय वे देखते थे कि एक अग्निके समान तेजस्वी महापुरुष उनके आगे-आगे चल रहे हैं। वे ही उनके शत्रुओंका नाश करते थे, किंतु लोग समझते थे कि यह अर्जुनका कार्य है। वे त्रिशूल धारण किये रहते थे और सूर्यके समान तेजस्वी थे। वेदव्यासजीसे बात होनेपर उन्होंने अर्जुनको बताया कि वे भगवान् शङ्कर ही थे। जिसपर श्रीकृष्णकी कृपा हो, उसपर और सब लोग भी कृपा करें—

इसमें आश्चर्य ही क्या है। 'जापर कृपा राम कै होई। तापर कृपा करहिं सब कोई ॥' अस्तु;

भगवान्‌के परम भक्त एवं कृपापात्र होनेके साथ-साथ अर्जुनमें और भी बहुत गुण थे। क्यों न हो, सूर्यके साथ सूर्यरश्मियोंकी तरह भक्तिके साथ-साथ दैवी गुण तो आनुषङ्गिकरूपसे रहते ही हैं। ये बड़े धीर, वीर, इन्द्रिय-जयी, दयालु, कोमलस्वभाव एवं सत्य-प्रतिज्ञ थे। इनमें दैवीगुण जन्मसे ही मौजूद थे, इस बातको गीतामें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने 'सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि' कहकर स्वीकार किया है। इनके जन्मके समय आकाशवाणीने इनकी माताको सम्बोधन करके कहा था—'कुन्ती! यह बालक कार्तवीर्य अर्जुन एवं भगवान् शङ्करके समान पराक्रमी एवं इन्द्रके समान अजेय होकर तुम्हारा यश बढ़ायेगा। जैसे विष्णुने अपनी माता अदितिको प्रसन्न किया था, वैसे ही यह तुम्हें प्रसन्न करेगा।' यह आकाशवाणी केवल कुन्तीने ही नहीं, सब लोगोंने सुनी थी। इससे ऋषि-मुनि, देवता और समस्त प्राणी बहुत प्रसन्न हुए। आकाशमें दुन्दुभियाँ बजने लगीं, पुष्पवर्षा होने लगी। इस प्रकार इनके जन्मके समयसे ही इनकी अलौकिकता प्रकट होने लगी थी। जब ये कुछ बड़े हुए तो इनके भाइयों तथा दुर्योधनादि धृतराष्ट्र-कुमारोंके साथ-साथ इनकी शिक्षा-दीक्षाका भार पहले कृपाचार्य-को, और पीछे द्रोणाचार्यको सौंपा गया। सूतपुत्रके नामसे प्रसिद्ध कर्ण भी इन्हींके साथ शिक्षा पाते थे। द्रोणाचार्यके सभी शिष्योंमें रण शिक्षा, बाहुबल और उद्योग की दृष्टिसे तथा समस्त शस्त्रोंके प्रयोग, लाघवता और सफाईमें अर्जुन ही सबसे बढ़े-चढ़े थे। ये द्रोणाचार्यकी सेवा भी बहुत करते थे। इनकी सेवा, लगन और बुद्धिसे प्रसन्न होकर द्रोणाचार्यने एक दिन इनसे कहा था कि 'बेटा! मैं ऐसा प्रयत्न करूँगा कि संसारमें तुम्हारे समान और कोई धनुर्धर न हो।' द्रोणाचार्य-जैसे सिद्ध गुरुकी प्रतिज्ञा क्या कभी असत्य हो सकती है? अर्जुन वास्तवमें संसारके अद्वितीय धनुर्धर निकले।

जब पाण्डव एवं कौरव-राजकुमार अस्त्रविद्याका अभ्यास पूरा कर चुके और गुरुदक्षिणा देनेका अवसर आया, उस समय गुरु द्रोणाचार्यने अपने शिष्योंसे कहा—'तुमलोग पाञ्चालराज द्रुपदको युद्धमें पकड़कर ला दो, यही मेरे लिये सबसे बड़ी गुरुदक्षिणा होगी।' सबने प्रसन्नतासे गुरुदेवकी आज्ञा स्वीकार की और उनके साथ अस्त्र-शस्त्रसे सुसज्जित हो रथपर सवार होकर द्रुपद-नगरपर चढ़ाई कर दी। वहाँ पहुँचनेपर पाञ्चालराजने अपने भाइयोंके साथ इनका मुकाबला किया। पहले अकेले कौरवोंने ही इनपर धावा किया था। परंतु उन्हें पाञ्चालराजसे हारकर लौटना पड़ा। अन्तमें अर्जुनने भीम और नकुल-सहदेवको साथ लेकर द्रुपदपर आक्रमण किया। बात-की-बातमें अर्जुनने द्रुपदको धर दबाया और उन्हें पकड़कर द्रोणाचार्यके सामने खड़ा कर दिया। इस प्रकार अर्जुनके पराक्रमकी सर्वत्र धाक जम गयी।

पाण्डव द्रौपदीके स्वयंवरका समाचार पाकर एकचक्रा नगरीसे द्रुपदनगरकी ओर जा रहे थे। रास्तेमें उनकी गन्धर्वोंसे मुठभेड़ हो गयी। अर्जुनने अपने अस्त्रकौशलसे गन्धर्वोंके छक्के छुड़ा दिये और उनके राजा अङ्गारपर्ण (चित्ररथ) को पकड़ लिया। अन्तमें दोनोंमें मित्रता हो गयी। द्रौपदीके स्वयंवरमें अर्जुनने वह काम करके दिखला दिया, जिसे उपस्थित राजाओंमेंसे कोई भी नहीं कर सका था। दुर्योधन, शाल्व, शिशुपाल, जरासंध एवं शल्य आदि अनेकों महाबली राजाओं तथा राजकुमारोंने वहाँपर रक्खे हुए धनुषको उठाकर चढ़ानेकी चेष्टा की, परंतु सभी असफल रहे। अर्जुनने बात-की-बातमें उसे उठाकर उसपर रौंदा चढ़ा दिया और लोगोंके देखते-देखते लक्ष्यको भी बेध दिया। उस समय अर्जुन ब्राह्मणोंके वेषमें अपनेको छिपाये हुए थे। अतः उन्हें ब्राह्मण समझकर समस्त राजाओंने मिलकर उनका पराभव करना चाहा। परंतु वे अर्जुन और भीमका बाल भी बाँका न कर सके। उस समय अर्जुन और कर्णका बाणयुद्ध और भीम एवं शल्यका गदायुद्ध हुआ। परंतु अर्जुन और भीमके सामने उनके दोनों ही प्रतिद्वन्द्वियोंको नीचा देखना पड़ा।

खाण्डवदाहके समय भी अर्जुनने अद्भुत पराक्रम दिखलाया था। जब अग्निदेवताने श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे खाण्डववनको जलाना प्रारम्भ किया, उस समय उसकी गरमीसे सारे देवता त्रस्त हो देवराज इन्द्रके पास गये। तब इन्द्रकी आज्ञासे दल-के-दल मेघ उस प्रचण्ड अग्निको शान्त करनेके लिये जलकी मोटी-मोटी धाराएँ बरसाने लगे। अर्जुनने अपने अस्त्रबलसे बाणोंके द्वारा जलकी धाराओंको आकाशमें ही रोक दिया और पृथ्वीपर नहीं गिरने दिया। इन्द्रने भी अपने तीक्ष्ण अस्त्रोंकी वर्षासे अर्जुनको उत्तर दिया। दोनों ओरसे घमासान युद्ध छिड़ गया। श्रीकृष्ण और अर्जुनने मिलकर अपने चक्र और तीखे बाणोंके द्वारा देवताओंकी सारी सेनाको तहस-नहस कर डाला। भगवान् श्रीकृष्णने उस समय अपना कालरूप प्रकट कर दिया था। देवता और दानव सभी उनके पौरुषको देखकर दंग रह गये। अन्तमें इन्द्रको सम्बोधन करके यह आकाशवाणी हुई कि 'तुम अर्जुन और श्रीकृष्णको युद्धमें किसी प्रकार भी नहीं जीत सकोगे। ये साक्षात् नर-नारायण हैं। इनकी शक्ति और पराक्रम असीम है। ये सबके लिये अजेय हैं। तुम देवताओंको लेकर यहाँसे चले जाओ, इसीमें तुम्हारी शोभा है।' आकाशवाणी सुनकर देवराज अपनी सेनाके साथ लौट पड़े और अग्निने देखते-देखते उस विशाल

वनको भस्म कर दिया। अर्जुनकी सेवासे प्रसन्न होकर अग्निने उन्हें दिव्य अस्त्र दिये। इन्द्रने भी उनके अस्त्र-कौशलसे प्रसन्न होकर उन्हें समय आनेपर अस्त्र देनेकी प्रतिज्ञा की तथा अग्निकी प्रार्थनापर वरुणदेवने उन्हें अक्षय तरकस, गाण्डीव धनुष और वानर-चिह्नयुक्त ध्वजासे मण्डित रथ युद्धसे पहले ही दे दिया था।

जब पाण्डवलोग दूसरी बार जुएमें हारकर वनमें रहने लगे, उस समय एक दिन महर्षि वेदव्यासजी उनके पास आये और युधिष्ठिरको एकान्तमें ले जाकर उन्होंने समझाया कि 'अर्जुन नारायणका सहचर महातपस्वी नर है। इसे कोई जीत नहीं सकता, यह अच्युतस्वरूप है। यह तपस्या एवं पराक्रमके द्वारा देवताओंके दर्शनकी योग्यता रखता है। इसलिये तुम इसको अस्त्रविद्या प्राप्त करनेके लिये भगवान् शङ्कर, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर और धर्मराजके पास भेजो। यह उनसे अस्त्र प्राप्त करके बड़ा पराक्रम करेगा और तुम्हारा खोया हुआ राज्य वापस ला देगा।' युधिष्ठिरने वेदव्यासजीकी आज्ञा मानकर अर्जुनको उन्हीं महर्षिकी दी हुई मन्त्र-विद्या सिखाकर इन्द्रके दर्शनके लिये इन्द्रकील पर्वतपर भेज दिया। वहाँ पहुँचनेपर एक तपस्वीके रूपमें इन्हें इन्द्रके दर्शन हुए। इन्द्रने इन्हें स्वर्गके भोगों एवं ऐश्वर्यका प्रलोभन दिया, परंतु इन्होंने सब कुछ छोड़कर उनसे अस्त्रविद्या सीखनेका ही आग्रह किया। इन्द्रने कहा—"पहले तुम तपद्वारा भगवान् शङ्करके दर्शन प्राप्त करो। उनके दर्शनसे सिद्ध होकर तुम स्वर्गमें आना, तब मैं तुम्हें सारे दिव्य अस्त्र दे दूँगा।' अर्जुन मनस्वी तो थे ही। वे तुरंत ही कठोर तपस्यामें लग गये। इनकी तपस्यासे प्रसन्न होकर भगवान् शङ्कर एक भीलके रूपमें इनके सामने प्रकट हुए। एक जंगली सूअरको लेकर दोनोंमें विवाद खड़ा हो गया और फिर दोनोंमें युद्ध छिड़ गया। अर्जुनने अपने अस्त्रकौशलसे भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर लिया। वे बोले—'अर्जुन! तुम्हारे अनुपम कर्मसे मैं प्रसन्न हूँ। तुम्हारे-जैसा धीर-वीर क्षत्रिय दूसरा नहीं है। तुम तेज और बलमें मेरे ही समान हो। तुम सनातन ऋषि हो। तुम्हें मैं दिव्य ज्ञान देता हूँ, तुम देवताओं-को भी जीत सकोगे।' इसके बाद भगवान् शङ्करने अर्जुनको देवी पार्वतीके सहित अपने असली रूपमें दर्शन देकर विधिपूर्वक पाशुपतास्त्रकी शिक्षा दी। इस प्रकार देवाधिदेव महादेवकी कृपा प्राप्तकर वे स्वर्ग जानेकी बात सोच रहे थे कि इतनेमें ही वरुण, कुबेर, यम एवं देवराज—ये चारों लोकपाल वहाँ आकर उपस्थित हुए। यम, वरुण और कुबेरने क्रमशः उन्हें दण्ड, पाश एवं अन्तर्धान नामक अस्त्र दिये और इन्द्र उन्हें स्वर्गमें आनेपर अस्त्र देनेको कह गये। इसके बाद इन्द्रके भेजे हुए रथपर बैठकर अर्जुन स्वर्गलोकमें गये और वहाँ पाँच वर्ष रहकर इन्होंने अस्त्रज्ञान प्राप्त किया और साथ-ही-साथ चित्रसेन गन्धर्वसे गान्धर्वविद्या सीखी। इन्द्रसे अस्त्रविद्या सीखकर जब अर्जुन सब प्रकारके अस्त्रोंके चलानेमें निपुण हो गये, तब देवराजने उनसे निवातकवच नामक दानवोंका वध करनेके लिये कहा। ये समुद्रके भीतर एक दुर्गम स्थानमें रहते थे। इनकी संख्या तीन करोड़ बतायी जाती थी। इन्हें देवता भी नहीं जीत सकते थे। अर्जुनने अकेले ही जाकर उन सबका संहार कर डाला। इतना ही नहीं, निवातकवचोंको मारकर लौटते समय उनका कालिकेय एवं पौलोम नामक दैत्योंसे युद्ध हुआ और उनका भी अर्जुनने सफाया कर डाला। इस प्रकार इन्द्रका प्रिय कार्य करके तथा इन्द्रपुरीमें कुछ दिन और रहकर अर्जुन वापस अपने भाइयोंके पास चले आये।

स्वर्गसे लौटकर वनमें तथा एक वर्ष अज्ञातरूपसे विराट-नगरमें रहते हुए भी अर्जुनने अद्भुत पराक्रम दिखाया। वनमें इन्होंने दुर्योधनादिको छुड़ानेके लिये गन्धर्वोंसे युद्ध किया, जिसका उल्लेख युधिष्ठिरके प्रसङ्गमें किया जा चुका है। इसके बाद जब वनवासके बारह वर्ष पूरे हो गये और पाण्डवलोग एक वर्षके अज्ञातवासकी शर्त पूरी करनेके लिये विराटके यहाँ रहने लगे, उस समय इन लोगोंका पता लगानेके लिये दुर्योधनने विराटनगरपर चढ़ाई की। भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृप, अश्वत्थामा आदि सभी प्रधान-प्रधान वीर उनके साथ थे। ये लोग राजा विराटकी साठ हजार गौओंको घेरकर ले चले। तब विराट-कुमार उत्तर बृहन्नला बने हुए अर्जुनको सारथि बनाकर उन्हें रोकनेके लिये गये। कौरवोंकी विशाल सेनाको देखते ही उत्तरके रोंगटे खड़े हो गये, वह रथसे उतरकर भागने लगा। बृहन्नला (अर्जुन) ने उसे पकड़कर समझाया और उसे सारथि बनाकर स्वयं युद्ध करने चले। इन्होंने बारी-बारीसे कर्ण, कृप, द्रोण, अश्वत्थामा और दुर्योधनको पराजित किया और भीष्मको भी मूर्छित कर दिया। इसके बाद भीष्म, दुर्योधन, कर्ण, दुःशासन, विविंशति, द्रोणाचार्य, अश्वत्थामा और कृपाचार्य—ये सभी महारथी एक साथ अर्जुनपर टूट पड़े और उन्होंने इन्हें चारों ओरसे घेर लिया; परंतु अर्जुनने अपने बाणोंकी झड़ीसे सबके छक्के छुड़ा दिये। अन्तमें उन्होंने सम्मोहन नामके अस्त्रको प्रकट किया, जिससे सारे-के-सारे कौरव वीर अचेतन हो गये, उनके हाथोंसे शस्त्र गिर पड़े। उस समय अर्जुन चाहते तो इन सबको आसानीसे मार सकते थे, परंतु वे इन सब बातोंसे ऊपर थे। होशमें आनेपर भीष्मकी सलाहसे कौरवोंने गौओंको छोड़कर लौट जाना ही श्रेयस्कर समझा। अर्जुन विजयघोष करते हुए नगरमें चले आये। इस प्रकार अर्जुनने विराटकी गौओंके साथ-साथ उनकी मान-मर्यादाकी भी रक्षा करके अपने आश्रयदाताका ऋण कई गुने रूपमें चुका दिया। धन्य स्वामिभक्ति!

महाभारत-युद्धके तो अर्जुन एक प्रधान पात्र थे ही। पाण्डवोंकी सेनाके प्रधान सेनानायक यही थे। भगवान् श्रीकृष्णने इन्हींका सारथि बनना स्वीकार किया था तथा भीष्म, द्रोण, कर्ण, अश्वत्थामा आदि अजेय योद्धाओंसे टक्कर लेना इन्हींका काम था। ये लोग सभी इनका लोहा मानते थे। इन्होंने जयद्रथ-वधके दिन जो अद्भुत पराक्रम एवं अस्त्रकौशल दिखलाया, वह तो इन्हींके योग्य था। इनकी भयंकर प्रतिज्ञाको सुनकर उस दिन कौरवोंने जयद्रथको सारी सेनाके पीछे खड़ा किया था। कई अक्षौहिणी सेनाके बीचमेंसे रास्ता काटते हुए अर्जुन बड़ी मुस्तैदी एवं अदम्य उत्साहके साथ अपने लक्ष्यकी ओर बढ़े चले जा रहे थे। शत्रु-सेनाके हजारों वीर और हाथी-घोड़े उनके अमोघ बाणोंके शिकार बन चुके थे। वे रथसे एक कोसतकके शत्रुओंका सफाया करते जाते थे। इतनेमें शाम होनेको आ गयी। इनके घोड़े बाणोंके लगनेसे बहुत व्यथित हो गये थे और अधिक परिश्रमके कारण थक भी गये थे। भूख-प्यास उन्हें अलग सता रही थी। अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा—'आप घोड़ोंको खोलकर इनके बाण निकाल दीजिये। तबतक मैं कौरवोंकी सारी सेनाको रोके रहूँगा।' ऐसा कहकर अर्जुन रथसे उतर पड़े और बड़ी सावधानीसे धनुष लेकर अविचल भावसे खड़े हो गये, उस समय इन्हें पराजित करनेका अच्छा मौका देखकर शत्रुसेनाके वीरोंने एक साथ इन्हें घेर लिया और तरह-तरहके बाणों एवं शस्त्रोंसे ढक दिया; किंतु वीर अर्जुनने उनके अस्त्रोंको अपने अस्त्रोंसे रोककर बदलेमें उन सभीको बाणोंसे आच्छादित कर दिया। इधर श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि 'घोड़े प्याससे व्याकुल हो रहे हैं; किंतु पासमें कोई जलाशय नहीं है।' इसपर अर्जुनने तुरंत ही अस्त्रद्वारा पृथ्वीको फोड़कर घोड़ोंके पानी पीने योग्य एक सुन्दर सरोवर बना दिया। इतना ही नहीं, उस सरोवरके ऊपर उन्होंने एक बाणोंका घर बना दिया। अर्जुनका यह अभूतपूर्व पराक्रम देखकर सिद्ध, चारण और सैनिकलोग दाँतोंतले अँगुली दबाने और वाह-वाह करने लगे। सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह हुई कि बड़े-बड़े महारथी भी पैदल अर्जुनको पीछे नहीं हटा सके। इस बीचमें श्रीकृष्णने फुर्तीसे घोड़ोंके बाण निकालकर उन्हें नहलाया, मालिश की, जल पिलाया और घास खिलाकर तथा जमीनपर लिटाकर उन्हें फिरसे रथमें जोत लिया। अर्जुन जब जयद्रथके पास पहुँचे तो इनपर आठ महारथियोंने एक साथ आक्रमण किया और दुर्योधनने अपने बहनोईकी रक्षाके उद्देश्यसे उन्हें चारों ओरसे घेर लिया; परंतु अर्जुन उन सबका मुकाबला करते हुए आगे बढ़ते ही गये। इनके वेगको कोई रोक नहीं सका। इन्होंने श्रीकृष्णकी कृपासे सूर्यास्त होते-होते जयद्रथको अपने वज्रतुल्य बाणोंका शिकार बना लिया और श्रीकृष्णके कथनानुसार इस कौशलसे उसके मस्तकको काटा कि वह कुरुक्षेत्रसे बाहर जाकर उसके पिताकी गोदमें गिरा। इस प्रकार श्रीकृष्णकी सहायतासे सूर्यास्तसे पहले-पहले अर्जुनने जयद्रथको मारकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी की।

× × ×

अर्जुन जगद्विजयी वीर और अद्वितीय धनुर्धर तो थे ही; वे बड़े भारी सत्यप्रतिज्ञ, सदाचारी, धर्मात्मा एवं इन्द्रियजयी भी थे। पाण्डव जब इन्द्रप्रस्थमें राज्य करते थे, उन दिनों एक दिन लुटेरे किसी ब्राह्मणकी गौएँ लेकर भाग गये। ब्राह्मणने आकर पाण्डवके सामने पुकार की। अर्जुनने ब्राह्मणकी करुण पुकार सुनी और उन्हें गौओंको छुड़ाकर लानेका वचन दिया। परंतु उनके शस्त्र उस घरमें थे, जहाँ उनके बड़े भाई महाराज युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ एकान्तमें बैठे हुए थे। पाँचों भाइयोंमें पहलेसे ही यह शर्त हो चुकी थी कि 'जिस समय द्रौपदी एक भाईके पास एकान्तमें रहे, उस समय दूसरा कोई भाई यदि उनके कमरेमें चला जाय तो वह बारह वर्षके लिये निर्वासित कर दिया जाय।' अर्जुन बड़े असमंजसमें पड़ गये। यदि ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षा नहीं की जाती तो क्षत्रिय-धर्मसे च्युत होते हैं और उसके लिये शस्त्र लेने कमरेमें जाते हैं तो नियमभंग होता है। अन्तमें अर्जुनने नियमभंग करके भी ब्राह्मणकी गौओंकी रक्षा करनेका ही निश्चय किया। उन्होंने सोचा—'नियमभंगके कारण मुझे कितना भी कठिन प्रायश्चित्त क्यों न करना पड़े, चाहे प्राण ही क्यों न चले जायँ, ब्राह्मणके गोधनकी रक्षा करके अपराधियोंको दण्ड देना मेरा धर्म है और वह मेरे जीवनकी रक्षासे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है।' धन्य धर्मप्रेम!

अर्जुन चुपचाप युधिष्ठिरके कमरेमें जाकर शस्त्र ले आये और उसी समय लुटेरोंका पीछा करके ब्राह्मणकी गौएँ छुड़ा लाये। वहाँसे लौटकर उन्होंने अपने बड़े भाईसे नियमभंगके प्रायश्चित्तरूपमें वन जानेकी आज्ञा माँगी। युधिष्ठिरने उन्हें समझाया कि 'बड़ा भाई अपनी स्त्रीके पास बैठा हो, उस समय छोटे भाईका उसके पास चला जाना अपराध नहीं है। यदि कोई अपराध हुआ भी हो तो वह मेरे प्रति हुआ है और मैं उसे स्वेच्छासे क्षमा करता हूँ। फिर तुमने धर्मके लिये ही तो नियमभंग किया है, इसलिये भी तुम्हें वन जानेकी आवश्यकता नहीं है।' अर्जुनके लिये नियमभंगके प्रायश्चित्तसे बचनेका यह अच्छा मौका था। और कोई होता तो इस मौकेको हाथसे नहीं जाने देता। आजकल तो कानूनके शिकंजेसे बचनेके लिये क़ानूनका ही आश्रय लेना बिल्कुल जायज समझा जाता है, परंतु अर्जुन बहाना लेकर दण्डसे बचना नहीं जानते थे। उन्होंने युधिष्ठिरके समझानेपर भी सत्यकी रक्षाके लिये नियमका पालन आवश्यक समझा और

वनवासकी दीक्षा लेकर वहाँसे चल पड़े ! धन्य सत्यप्रतिज्ञता और नियम-पालनकी तत्परता !

जिस समय अर्जुन इन्द्रपुरीमें रहकर अस्त्रविद्या तथा गान्धर्व-विद्या सीख रहे थे, एक दिन इन्द्रने रात्रिके समय उनकी सेवाके लिये वहाँकी सर्वश्रेष्ठ अप्सरा उर्वशीको उनके पास भेजा । उस दिन सभामें इन्द्रने अर्जुनको उर्वशीकी ओर निर्निमेष नेत्रोंसे देखते हुए पाया था । उर्वशी अर्जुनके रूप और गुणोंपर पहलेसे ही मुग्ध थी । वह इन्द्रकी आज्ञासे खूब सज-धजकर अर्जुनके पास गयी । अर्जुन उर्वशीको रात्रिमें अकेले इस प्रकार निःसंकोचभावसे अपने पास आयी देख सहम गये । उन्होंने शीलवश अपने नेत्र बंद कर लिये और उर्वशीको माताकी भाँति प्रणाम किया । उर्वशी यह देखकर दंग रह गयी । उसे अर्जुनसे इस प्रकारके व्यवहारकी आशा नहीं थी । उसने खुल्लमखुल्ला अर्जुनके प्रति कामभाव प्रकट किया । अब तो अर्जुन मारे संकोचके धरतीमें गड़-से गये । उन्होंने अपने हाथोंसे दोनों कान मूँद लिये और बोले—'माता ! यह क्या कह रही हो ? देवि ! निस्संदेह तुम मेरी गुरुपत्नीके समान हो । देवसभामें मैंने तुम्हें निर्निमेष नेत्रोंसे देखा अवश्य था; परंतु मेरे मनमें कोई बुरा भाव नहीं था । मैं यही सोच रहा था कि पूरुवंशकी यही माता हैं । इसीसे मैं तुमको देख रहा था । देवि ! मेरे सम्बन्धमें और कोई बात तुम्हें सोचनी ही नहीं चाहिये । तुम मेरे लिये बड़ोंकी बड़ी और मेरे पूर्वजोंकी जननी हो । जैसे कुन्ती, माद्री और इन्द्रपत्नी शची मेरी माताएँ हैं, वैसे ही तुम भी पूरुवंशकी जननी होनेके नाते मेरी पूजनीया माता हो । मैं तुम्हारे चरणोंमें सिर झुकाकर प्रणाम करता हूँ ।'* अब तो उर्वशी क्रोधके मारे आगबबूला हो गयी । उसने अर्जुनको शाप दिया—'मैं इन्द्रकी आज्ञासे कामातुर होकर तुम्हारे पास आयी थी; परंतु तुमने मेरे प्रेमको ठुकरा दिया । इसलिये जाओ, तुम्हें स्त्रियोंके बीचमें नचनियाँ होकर रहना पड़ेगा और लोग तुम्हें हिजड़ा कहकर पुकारेंगे ।' अर्जुनने उर्वशीके शापको सहर्ष स्वीकार कर लिया, परंतु धर्मका त्याग नहीं किया । एकान्तमें स्वेच्छासे आयी हुई उर्वशी-जैसी अनुपम सुन्दरीका परित्याग करना अर्जुनका ही काम था । धन्य इन्द्रियजय ! जब इन्द्रको यह बात मालूम हुई तो उन्होंने अर्जुनको बुलाकर उनकी पीठ ठोंकी और कहा—'बेटा ! तुम्हारे-जैसा पुत्र पाकर तुम्हारी माता धन्य हुई । तुमने अपने धैर्यसे ऋषियोंको भी जीत लिया । अब तुम किसी प्रकारकी चिन्ता न करो । उर्वशीने जो शाप तुम्हें दिया है, वह तुम्हारे लिये वरदानका काम करेगा । तेरहवें वर्षमें जब तुम अज्ञातवास करोगे, उस समय यह शाप तुम्हारे छिपनेमें सहायक होगा । इसके बाद तुम्हें पुरुषत्वकी प्राप्ति हो जायगी ।' सच है—'धर्मो रक्षति रक्षितः ।'

× × ×

विराटनगरमें अज्ञातवासकी अवधि पूरी हो जानेपर जब पाण्डवोंने अपनेको राजा विराटके सामने प्रकट किया, उस समय राजा विराटने कृतज्ञतावश अपनी कन्या उत्तराकुमारीका अर्जुनसे विवाह करना चाहा । परंतु अर्जुनने उनके इस प्रस्तावको स्वीकार नहीं किया । उन्होंने कहा—'राजन् ! मैं बहुत कालतक आपके रनिवासमें रहा हूँ और आपकी कन्याको एकान्तमें तथा सबके सामने भी पुत्रीके रूपमें ही देखता आया हूँ । उसने भी मुझपर पिताकी भाँति ही विश्वास किया है । मैं उसके सामने नाचता था और संगीतका जानकार भी हूँ । इसलिये वह मुझसे प्रेम तो बहुत करती है परंतु सदा मुझे गुरु ही मानती आयी है । वह वयस्का हो गयी है और उसके साथ एक वर्षतक मुझे रहना पड़ा है । अतः आपको या किसी औरको हम दोनोंके प्रति अनुचित संदेह न हो, इसलिये उसे मैं अपनी पुत्रवधूके रूपमें ही वरण करता हूँ । ऐसा करनेसे ही हम दोनोंका चरित्र शुद्ध समझा जायगा ।' अर्जुनके इस पवित्र भावकी सब लोगोंने प्रशंसा की और उत्तरा अभिमन्युको ब्याह दी गयी । अर्जुन-जैसे महान् इन्द्रियजयी ही इस प्रकार युवती कन्याके साथ एक वर्षतक घनिष्ठ सम्पर्कमें रहकर भी अपनेको अछूता रख सके और उसका भाव भी इनके प्रति बिगड़ा नहीं । वयस्क छात्रों तथा छात्राओंके शिक्षकोंको इससे शिक्षा लेनी चाहिये ।

× × ×

जब अश्वत्थामा रात्रिमें सोये हुए पाण्डवोंके पुत्रों तथा धृष्टद्युम्न आदिको मारकर स्वयं गङ्गातटपर जा बैठा, तब पीछेसे उसके क्रूर कर्मका संवाद पाकर भीमसेन और अर्जुन उससे बदला लेनेके लिये उसकी तलाशमें गये । भीम और अर्जुनको आते देख अश्वत्थामा बहुत डर गया और इनके हाथोंसे बचनेका और कोई उपाय न देख उसने ब्रह्मास्त्रका प्रयोग किया । देखते-देखते वहाँ प्रलयकालकी-सी अग्नि उत्पन्न हो गयी और वह चारों ओर फैलने लगी । उसे शान्त करनेके लिये अर्जुनने भी ब्रह्मास्त्रको प्रकट किया; क्योंकि ब्रह्मास्त्रको ब्रह्मास्त्रके द्वारा ही शान्त किया जा सकता था । दोनों अस्त्रोंके आपसमें टकरानेसे बड़ी भारी गर्जना होने लगी, हजारों उल्काएँ गिरने लगीं और सभी प्राणियोंको बड़ा भय मालूम होने लगा । यह भयंकर काण्ड देखकर देवर्षि नारद और महर्षि व्यास दोनों वहाँ एक साथ पधारे और दोनों वीरोंको शान्त करने लगे । इन दोनों महापुरुषोंके कहनेसे अर्जुनने तो तुरंत अपना दिव्य अस्त्र लौटा लिया । उन्होंने उसे छोड़ा

* यथा कुन्ती च माद्री च शची चैव ममानघे ।
तथा च वंशजननी त्वं हि मेऽद्य गरीयसी ॥
गच्छ मूर्ध्ना प्रपन्नोऽस्मि पादौ ते वरवर्णिनि ।
त्वं हि मे मातृवत् पूज्या रक्ष्योऽहं पुत्रवत्त्वया ॥
(महा० वन० ४६ । ४६-४७)

ही था अश्वत्थामाके अस्त्रको शान्त करनेके लिये ही। उस अस्त्रका ऐसा प्रभाव था कि उसे एक बार छोड़ देनेपर सहसा उसे लौटाना अत्यन्त कठिन था। केवल ब्रह्मचारी ही उसे लौटा सकता था। अश्वत्थामाने भी उन दोनों महापुरुषोंको देखकर उसे लौटानेका बहुत प्रयत्न किया, पर वह संयमी न होनेके कारण उसे लौटा न सका। अन्तमें व्यासजीके कहनेसे उसने उस अस्त्रको उत्तराके गर्भपर छोड़ दिया और वह बालक मरा हुआ निकला; किंतु भगवान् श्रीकृष्णने उसे फिरसे जिला दिया। इस प्रकार अर्जुनमें शूरवीरता, अस्त्रज्ञान और इन्द्रियजय—इन तीनों गुणोंका अद्भुत सम्मिश्रण था।

अर्जुनका जीवन एक दिव्य जीवन था। उनके चरित्र-परहम जितना ही विचार करते हैं, उतना ही हमें वह आदर्श एवं शिक्षाओंसे पूर्ण प्रतीत होता है।

महावीर युवक अभिमन्यु

अर्जुनका पुत्र सुभद्राकुमार अभिमन्यु महाभारत महाकाव्यका एक अपूर्व पात्र है। यह भगवान् श्रीकृष्णका भानजा अर्जुनके समान ही महान् धनुर्धर था। वह श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनोंको समान प्रिय था। महाराज युधिष्ठिरके साथ अन्य चारों भाई भी उसको बहुत अधिक प्यार करते थे। पाण्डवोंके अज्ञातवासके पश्चात् ही अभिमन्युका व्याह महाराजा विराटकी पुत्री उत्तराके साथ बड़ी धूम-धामसे हुआ था। अर्जुनने उत्तराको पुत्रवधूके रूपमें स्वीकार करते समय महाराजा विराटसे कहा था—

स्नुषार्थमुत्तरां राजन् प्रतिगृह्णामि ते सुताम् ॥
स्वस्रीयो वासुदेवस्य साक्षाद् देवशिशुर्यथा।
दयितश्चक्रहस्तस्य सर्वास्त्रेषु च कोविदः॥
(विराट ०७२।७।८)

अभिमन्युर्महाबाहुः पुत्रो मम विशाम्पते।
जामाता तव युक्तो वै भर्त्ता च दुहितुस्तव॥
(७२।९)

'राजन्! आपकी पुत्री उत्तराको मैं पुत्रवधूके रूपमें ग्रहण करता हूँ। मेरा पुत्र अभिमन्यु भगवान् वासुदेवका भानजा और देखनेमें साक्षात् देवकुमार-सा है। चक्रधारी श्रीकृष्णको वह अति प्रिय है। तथा वह सब प्रकारकी अस्त्रविद्यामें कुशल है। महाराज! मेरा वह महाबली पुत्र अभिमन्यु आपकी पुत्रीका उपयुक्त पति तथा आपका सुयोग्य जामाता बनने योग्य है।'

इस सम्बन्धसे महाराज विराट कृतकृत्य हो गये। परंतु इसके बाद ही विराटकी सभामें महाभारतके युद्धकी भूमिका शुरू हो गयी।

महायुद्धमें जब द्रोणाचार्य कौरवसेनाके सेनाध्यक्ष बने और अपनी सेनाकी व्यूह-रचना करके व्यूहके द्वारपर स्वयं डट गये तो पाण्डवोंके सामने एक निकट प्रश्न आ उपस्थित हो गया। उस समय अर्जुन संशप्तकोंसे युद्ध कर रहे थे, और द्रोणके व्यूहको तोड़नेवाला अर्जुनकुमार अभिमन्युके सिवा कोई दूसरा न था। वह व्यूह तोड़कर भीतर तो घुस सकता था, परंतु शत्रुसैन्यके भीतरसे बाहर आनेकी कला उसे मालूम न थी। भीमसेन उसका अनुगमन करनेवाले थे और उनके पीछे धृष्टद्युम्न और सात्यकि तथा पाञ्चाल, कैकय, मत्स्यादि सैनिकोंका दल घुसनेवाला था। परंतु भगवान् शङ्करका वर प्राप्त करनेके कारण जयद्रथ उस दिन अजेय बन गया था, उसने किसीको भी अभिमन्युके पीछे नहीं जाने दिया। अभिमन्यु अकेला ही कौरवोंकी महासेनामें घुसकर वहाँ प्रलयका दृश्य उपस्थित कर बड़े-बड़े महारथियोंके छक्के छुड़ाने लगा।

द्रोणपर्वके ३४ वें अध्यायमें संजयने श्रीकृष्ण और पाण्डवोंकी प्रशंसा करते हुए अन्तमें धृतराष्ट्रसे कहा था कि—

ये च कृष्णे गुणाः स्फीताः पाण्डवेषु च ये गुणाः।
अभिमन्यौ किलैकस्था दृश्यन्ते गुणसंचयाः॥
(द्रोण० ३४।८)

युधिष्ठिरस्य वीर्येण कृष्णस्य चरितेन च।
कर्मभिर्भीमसेनस्य सदृशो भीमकर्मणः॥
धनंजयस्य रूपेण विक्रमेण श्रुतेन च।
विनयात् सहदेवस्य सदृशो नकुलस्य च॥
(द्रोण० ३४।९-१०)

महात्मा संजयने संक्षेपमें अभिमन्युके गुणोंका दिग्दर्शन कराया है। 'श्रीकृष्णमें तथा पाण्डवोंमें जो श्रेष्ठ गुण हैं, वे सारे गुण संचित होकर एकत्र अभिमन्युमें देखे जाते हैं। वह वीर्यमें युधिष्ठिरके समान है, आचारमें श्रीकृष्णके समान है, भयंकर कर्म करनेवाले भीमसेनके समान कर्मठ है, विद्या, पराक्रम और रूपमें अर्जुनके समान है, तथा विनयमें सहदेव और नकुलके समान है।'

इस प्रकारके सर्व गुणोंसे युक्त वीर बालक अभिमन्युने कौरवोंकी महती सेनामें रथ, गज और पैदल—सेनाके तीनों अङ्गोंको इस प्रकार मथ डाला मानो स्वयं विष्णु भगवान् असुर सैन्यका संहार करनेपर तुल गये हों। अभिमन्युके शस्त्रसंघातसे कौरवसेनामें हाहाकार मच गया। धृतराष्ट्रने अभिमन्युके पराक्रमका संवाद सुनकर कहा था—

द्वैधीभवति मे चित्तं ह्रिया तुष्ट्या च संजय।
मम पुत्रस्य यत् सैन्यं सौभद्रः समवारयत्॥
(द्रोण ३९।१)

'हे संजय ! मेरे पुत्र दुर्योधनकी महती सेनाको वीर बालक सुभद्राकुमार अभिमन्युने तहस-नहस करके तितर-वितर कर दिया, यह सुनकर मेरा हृदय लज्जा और आनन्दसे द्विविधामें पड़ जाता है।' धन्य है महाभाग धृतराष्ट्र ! अपने पौत्र अर्जुनकुमार अभिमन्युकी वीरताको सुनकर आप हर्षित हो उठते हैं, यह आपके उत्कृष्ट क्षात्र-धर्म और विशुद्ध आत्मीयताका द्योतक है, और लज्जित इसलिये होते हैं कि इतनी बड़ी और शक्तिशाली हमारे पुत्रोंकी कौरवसेना, एक बालकके सामने नहीं टिक सकी !

उस युद्धमें अभिमन्युके अद्भुत पराक्रमको देखकर गुरु द्रोणसे नहीं रहा गया, वे बोल उठे—

एष गच्छति सौभद्रः पार्थानां प्रथितो युवा ।
नन्दयन् सुहृदः सर्वान् राजानं च युधिष्ठिरम् ॥
नास्य युद्धे समं मन्ये कंचिदन्यं धनुर्धरम् ।
इच्छन् हन्यादिमां सेनां किमर्थमपि नेच्छति ॥

(द्रोण० ३९ । ११, १३)

'यह पृथापुत्रोंका प्रसिद्ध युवक सुभद्राकुमार अभिमन्यु अपने सब सुहृज्जनोंको तथा राजा युधिष्ठिरको आनन्दित करता हुआ कौरव-सेनाके भीतर घुसता जा रहा है। इस युद्धमें इसके समान् धनुर्धर मैं किसी दूसरेको नहीं मानता। यह चाहे तो इस सेनाका संहार कर सकता है। पर यह ऐसा चाहता क्यों नहीं है ?'

दुर्योधन अभिमन्युके पराक्रमको देखकर दंग हो गया, परंतु करता क्या ? आचार्य द्रोणकी आलोचना करते हुए कहने लगा। कर्ण ! यह अर्जुनका मूढ़ पुत्र द्रोणके द्वारा रक्षित होकर अपनेको बड़ा पराक्रमशाली समझ रहा है। ब्रह्मवेत्ता-ओंमें श्रेष्ठ आचार्य द्रोण तो उच्चकोटिके धनुर्धरोंके आचार्य हैं, अपने शिष्यका पुत्र समझकर इसे छोड़ रहे हैं।' परंतु दुर्योधनके उकसानेपर भी कौरवसेनाके महारथी एक-एक करके अभिमन्युसे हार खाने लगे। उसकी युद्ध-कलाकी कुशलताका वर्णन गुरु द्रोणने द्रोणपर्वके ४८ वें अध्यायमें किया है। जिसे सुनकर कौरवोंका पक्षपाती कर्ण भी बोल उठा—

स्थातव्यमिति तिष्ठामि पीड्यमानोऽभिमन्युना ।
तेजस्विनः कुमारस्य शराः परमदारुणा ॥
क्षिण्वन्ति हृदयं मेऽद्य घोराः पावकतेजसः ।

(द्रोण० ४८ । २५)

'अभिमन्युके द्वारा पीड़ित होकर, मुझे युद्धभूमिसे भागना नहीं चाहिये, इसी विचारसे मैं ठहरा हूँ। तेजस्वी सुभद्रा-कुमारके बाण परम दारुण हैं, आज उसके अग्निके समान तेज और भयंकर बाण मेरे हृदयको छलनी कर रहे हैं।'

द्रोणाचार्यने कर्णकी इस बातका समर्थन करते हुए कहा कि 'जबतक इसके हाथमें धनुषबाण है, तबतक इसको देवता और असुरोंके समूह भी नहीं जीत सकते। इसलिये इसको रथ और धनुषसे रहित कर दो।

सधनुष्को न शक्योऽयमपि जेतुं सुरासुरैः ।
विरथं विधनुष्कं च कुरुष्वैनं यदीच्छसि ॥

(द्रोण० ४८ । ३०-३१)

तत्पश्चात् महाभारतके युद्धका सबसे बड़ा अन्याय सामने आया। एक वीर बालकके विरुद्ध छः महारथी योद्धाओंने चारों ओरसे बाण-वर्षा करके उसको धनुर्विहीन कर दिया, रथविहीन कर दिया। उसे निहत्था करके आघात करते गये, और अन्तमें उसे मार डाला।

महात्मा संजय कहते हैं कि—

द्रोणकर्णमुखैः षड्भिर्धार्तराष्ट्रैर्महारथैः ।
एकोऽयं निहतः शेते नैष धर्मो मतो हि नः ॥

(द्रोण० ४९ । २२)

'द्रोण, कर्ण आदि छः कौरव महारथियोंने अकेले अभिमन्युको मार डाला, मेरे विचारसे यह धर्मविरुद्ध है।' परंतु वे कौरव महारथी युद्धमें अभिमन्युसे संत्रस्त होकर ही इस धर्मविरुद्ध कार्यपर उतारू हुए थे। अभिमन्युकी अद्भुत वीरताका यह एक स्पष्ट प्रमाण है। अभिमन्युके इस युद्धकी विशिष्टताके कारण द्रोणपर्वके अन्तर्गत ३३ वें अध्यायसे लेकर ७० वें अध्यायतकका अवान्तर भाग अभिमन्यु-वधके नामसे अभिहित हुआ है, इस पर्वमें अभिमन्युकी वीरताका विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है, जो महाभारतके युद्धमें विशेषरूपसे दर्शनीय है। इसीसे भगवान् श्रीकृष्णने अपनी बहिन सुभद्राको सान्त्वना देते हुए कहा था—

क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गतः शूरः सतां गतिम् ।
यां गतिं प्राप्नुयामेह ये चान्ये शस्त्रजीविनः ॥

(द्रोण० ७७ । २१)

'बहिन ! 'शूरवीर अभिमन्युने क्षत्रिय-धर्मकी शोभा बढ़ाकर संत्पुरुषोंको प्राप्त होनेवाली वह गति पायी है जिसको हमलोग तथा इस संसारके सभी शस्त्रधारी क्षत्रिय प्राप्त करना चाहते हैं।'

भगवान् वेदव्यास

भगवान् वेदव्यास महर्षि पराशरके पुत्र थे। ये कैवर्तराजकी पोष्यपुत्री सत्यवतीके गर्भसे जन्मे थे। व्यासजी एक अलौकिक शक्तिसम्पन्न महापुरुष थे। ये एक महान् कारक पुरुष थे। इन्होंने लोगोंकी धारणाशक्तिको क्षीण होते देख वेदोंके ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद—ये चार विभाग किये और एक-एक संहिता अपने एक-एक शिष्यको पढ़ा दी। एक-एक संहिताकी फिर अनेकों शाखा-प्रशाखाएँ हुईं। इस प्रकार इन्हींके प्रयत्नसे वैदिक वाङ्मयका बहुवि
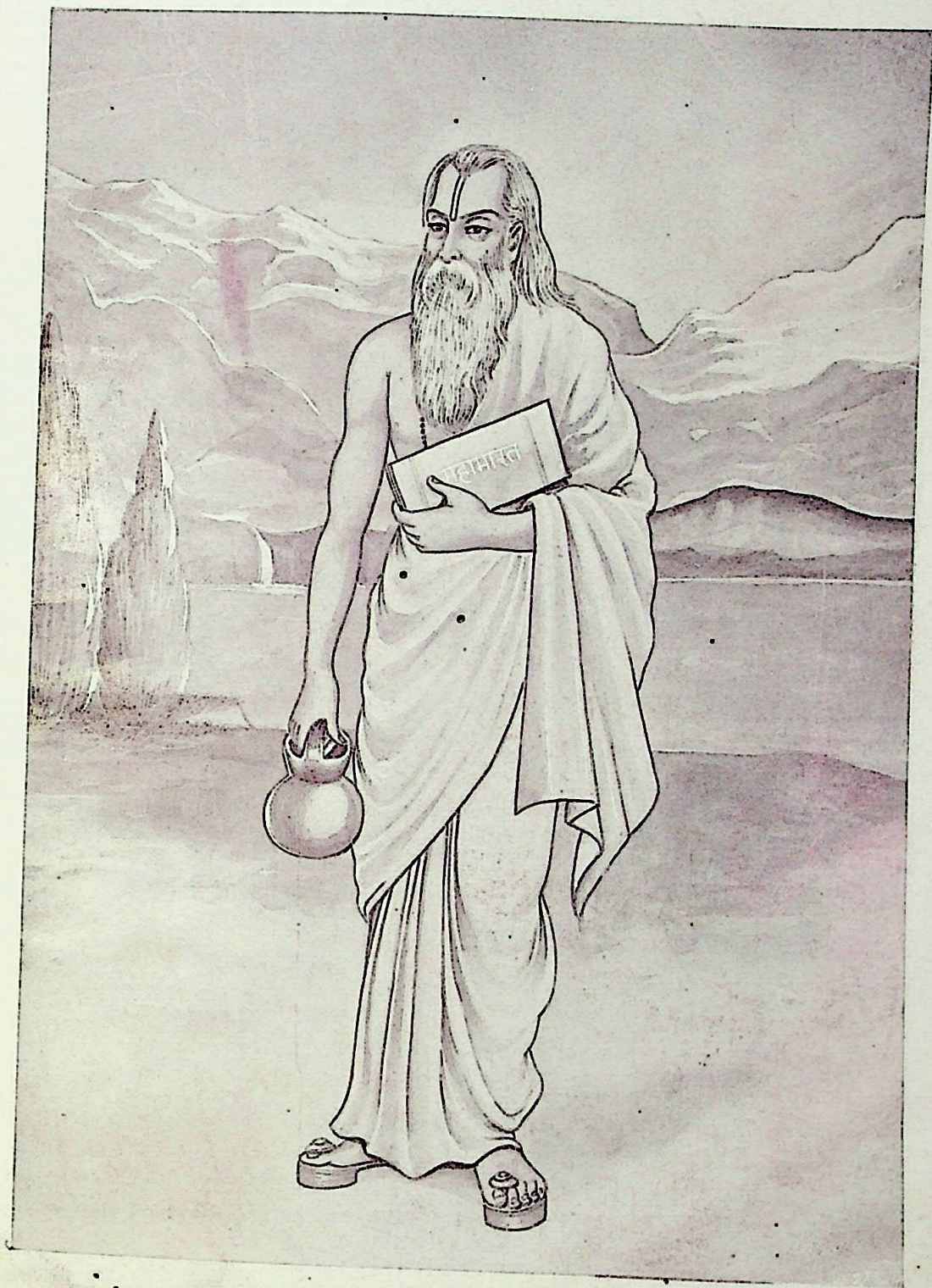
भगवान् वेदव्यास

विस्तार हुआ। व्यास कहते हैं विस्तारको; क्योंकि वेदोंका विस्तार इन्हींसे हुआ, इसलिये ये वेदव्यासके नामसे प्रसिद्ध हुए। इनका जन्म एक द्वीपके अंदर हुआ था और इनका वर्ण श्याम था, इसलिये इन्हें लोग कृष्णद्वैपायन भी कहते हैं। बदरीवनमें रहनेके कारण इनका एक नाम बादरायण भी है। अठारह पुराण एवं महाभारतकी रचना इन्हींके द्वारा हुई और संक्षेपमें उपनिषदोंका तत्त्व समझानेके लिये इन्होंने ब्रह्मसूत्रोंका निर्माण किया, जिसपर भिन्न-भिन्न आचार्योंने भिन्न-भिन्न भाष्योंकी रचना कर अपना-अपना अलग मत स्थापित किया। व्यासस्मृतिके नामसे इनका रचा हुआ एक स्मृतिग्रन्थ भी उपलब्ध होता है। इस प्रकार भारतीय वाङ्मय एवं हिंदू-संस्कृतिपर व्यासजीका बहुत बड़ा ऋण है। श्रुति-स्मृति-पुराणोक्त सनातन धर्मके व्यासजी एक प्रधान व्याख्याता कहे जा सकते हैं। इनके उपकारसे हिंदू-जाति कदापि उऋण नहीं हो सकती। जबतक हिंदू-जाति और भारतीय संस्कृति जीवित है, तबतक इतिहासमें व्यासजीका नाम अमर रहेगा। ये जगत्के एक महान् पथप्रदर्शक और शिक्षक कहे जा सकते हैं। इसीसे इन्हें जगद्गुरु कहलानेका गौरव प्राप्त है। गुरुपूर्णिमा (अषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा) के दिन प्रत्येक आस्तिक हिंदू गृहस्थ इनकी पूजा करता है। भगवद्गीता-जैसा अनुपम रत्न भी संसारको व्यासजीकी कृपासे ही प्राप्त हुआ। इन्होंने ही भगवान् श्रीकृष्णके उस अमर उपदेशको अपनी महाभारतसंहितामें ग्रथितकर उसे संसारके लिये सुलभ बना दिया।

महर्षि वेदव्यास त्रिकालदर्शी एवं इच्छागति हैं। वे प्रत्येकके मनकी बात जान लेते हैं और इच्छा करते ही जहाँ जाना चाहें वहीं पहुँच जाते हैं। ये जन्मते ही अपनी माताकी आज्ञा लेकर वनमें तपस्या करने चल दिये। जाते समय ये मातासे कह गये कि 'जब कभी तुम्हें मेरी आवश्यकता जान पड़े, तुम मुझे याद कर लेना। मैं उसी समय तुम्हारे पास चला आऊँगा।'

जब पाण्डव विदुरजीकी बतायी हुई युक्तिका अनुसरण कर लाक्षाभवनसे निकल भागे और एकचक्रा नगरीमें जाकर रहने लगे, उन दिनों व्यासजी उनके पास उनसे मिलनेके लिये आये और प्रसङ्गवश उन्होंने उन्हें द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाकर यह बताया कि 'वह कन्या तुम्हीं लोगोंके लिये पहलेसे निश्चित है।' इस बातको सुनकर पाण्डवोंको बड़ी प्रसन्नता एवं उत्सुकता हुई। और वे द्रुपदकुमारीके स्वयंवरमें सम्मिलित होनेके लिये पाञ्चालनगरकी ओर चल पड़े। वहाँ जाकर जब अर्जुनने स्वयंवरकी शर्त पूरी करके द्रौपदीको जीत लिया और माता कुन्तीकी आज्ञासे पाँचों भाइयोंने उससे विवाह करना चाहा, तब राजा द्रुपदने इसपर आपत्ति की। उसी समय व्यासजी वहाँ आ पहुँचे और उन्होंने द्रुपदको द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाकर पाँचों भाइयोंके साथ अपनी कन्याका विवाह करनेके लिये राजी कर लिया।'

महाराज युधिष्ठिरने जब इन्द्रप्रस्थमें राजसूय यज्ञ किया, उस समय भी वेदव्यासजी यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये अपनी शिष्यमण्डलीके साथ पधारे थे। यज्ञ समाप्त होनेपर वे विदा होनेके लिये युधिष्ठिरके पास आये और बातों-ही-बातोंमें उन्होंने युधिष्ठिरको बतलाया कि 'आजसे तेरह वर्ष बाद क्षत्रियोंका महासंहार होगा, जिसमें दुर्योधनके अपराधसे तुम्हीं निमित्त बनोगे।'

× × ×

पाण्डवोंका सर्वस्व छीनकर तथा उन्हें बारह वर्षोंकी लंबी अवधिके लिये वन भेजकर भी दुर्योधनको संतोष नहीं हुआ। वह पाण्डवोंको वनमें ही मार डालनेकी घात सोचने लगा। अपने मामा शकुनि, कर्ण तथा दुःशासनसे सलाह करके उसने चुपचाप पाण्डवोंपर आक्रमण करनेका निश्चय किया और सब लोग शस्त्रास्त्रसे सुसज्जित रथोंपर सवार होकर वनकी ओर चल पड़े। व्यासजीको अपनी दिव्य दृष्टिसे उनकी इस दुरभिसन्धिका पता लग गया। वे तुरंत उनके पास आये और उन्हें इस घोर दुष्कर्मसे निवृत्त किया। इसके बाद उन्होंने धृतराष्ट्रके पास जाकर उन्हें समझाया कि 'तुमने जुएमें हराकर पाण्डवोंको वनमें भेज दिया, यह अच्छा नहीं किया, इसका परिणाम अच्छा नहीं होगा। तुम यदि अपना तथा अपने पुत्रोंका हित चाहते हो तो अब भी सँभल जाओ, भला! यह कैसी बात है कि दुरात्मा दुर्योधन राज्यके लोभसे पाण्डवोंको मार डालना चाहता है। मैं कहे देता हूँ कि अपने इस लाड़ले बेटेको इस कामसे रोक दो। वह चुपचाप घर बैठा रहे। यदि उसने पाण्डवोंको मार डालनेकी चेष्टा की, तो वह स्वयं अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठेगा। यदि तुम अपने पुत्रकी द्वेष-बुद्धि मिटानेकी चेष्टा नहीं करोगे तो बड़ा अनर्थ होगा। मेरी सम्मति तो यह है कि दुर्योधन अकेला ही वनमें जाकर पाण्डवोंके पास रहे। सम्भव है पाण्डवोंके सत्सङ्गसे उसका द्वेषभाव दूर होकर प्रेमभाव जाग्रत् हो जाय। परंतु यह बात है बहुत कठिन; क्योंकि जन्मगत स्वभावका बदल जाना सहज नहीं है। यदि तुम कुरुवंशियोंकी रक्षा और उनका जीवन चाहते हो तो अपने पुत्रसे कहो कि वह पाण्डवोंके साथ मेल कर ले।' व्यासजीने धृतराष्ट्रसे यह भी कहा कि 'थोड़ी ही देरमें महर्षि मैत्रेयजी यहाँ आनेवाले हैं। वे तुम्हारे पुत्रको पाण्डवोंसे मेल कर लेनेका उपदेश देंगे। वे जैसा कहें, बिना सोचे-विचारे तुम लोगोंको वैसा ही करना चाहिये। यदि उनकी बात नहीं मानोगे तो वे क्रोधवश शाप दे देंगे।' परंतु दुष्ट दुर्योधनने उनकी बात नहीं मानी और फलतः उसे महर्षि मैत्रेयका कोपभाजन बनना पड़ा।

× × ×

व्यासजी त्रिकालदर्शी तो थे ही, उनका सामर्थ्य भी

अद्भुत था। जब पाण्डव लोग वनमें रहते थे, उस समय इन्होंने एक दिन उनके पास जाकर युधिष्ठिरके द्वारा अर्जुनको प्रतिस्मृति-विद्याका उपदेश दिया, जिससे उनमें देवदर्शनकी योग्यता आ गयी। इतना ही नहीं, इन्होंने संजयको दिव्य दृष्टि दे दी, जिसके प्रभावसे उन्हें युद्धकी सारी बातोंका ही ज्ञान ही नहीं हुआ; उनमें भगवान्के विश्वरूप एवं दिव्य चतुर्भुजरूपके देवदुर्लभ दर्शनकी योग्यता भी आ गयी और वे साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णके मुखारविन्दसे भगवद्गीताके दिव्य उपदेशका भी श्रवण कर सके, जिसे अर्जुनके सिवा और कोई भी नहीं सुन पाया था। जिस दिव्य-दृष्टिके प्रभावसे संजयमें इतनी बड़ी योग्यता आ गयी, उस दिव्यदृष्टिके प्रदान करनेवाले महर्षि वेदव्यासमें कितना सामर्थ्य होगा—हमलोग इसका ठीक-ठीक अनुमान भी नहीं लगा सकते। वे साक्षात् भगवान् नारायणकी कला ही जो ठहरे।

× × ×

एक बार, जब धृतराष्ट्र और गान्धारी वनमें रहते थे और महाराज युधिष्ठिर भी अपने परिवारके साथ उनसे मिलनेके लिये गये थे, व्यासजी वहाँ आये और यह देखकर कि धृतराष्ट्र और गान्धारीका पुत्रशोक अभीतक दूर नहीं हुआ है और कुन्ती भी अपने पुत्रोंके वियोगसे दुखी है, इन्होंने धृतराष्ट्रसे वर माँगनेको कहा। राजा धृतराष्ट्रने उनसे यह जानना चाहा कि 'महाभारत-युद्धमें उनके जिन कुटुम्बियों और मित्रोंका नाश हुआ है, उनकी क्या गति हुई होगी? साथ ही उन्होंने व्यासजीसे उन्हें एक बार दिखला देनेकी प्रार्थना की। व्यासजीने उनकी प्रार्थना स्वीकार करते हुए गान्धारीसे कहा कि 'आज रातको ही तुम सब लोग अपने मृत बन्धुओंको उसी प्रकार देखोगे, जैसे कोई सोकर उठे हुए मनुष्योंको देखे। सायंकालका नित्यकृत्य करके व्यासजीकी आज्ञासे सब लोग गङ्गातटपर एकत्रित हुए। व्यासजीने गङ्गाजीके पवित्र जलमें घुसकर पाण्डव एवं कौरवपक्षके योद्धाओंको, जो युद्धमें मर गये थे, आवाज दी। उसी समय जलमें वैसा ही कोलाहल सुनायी दिया, जैसा कौरव-पाण्डवोंकी सेनाओंके एकत्र होनेपर कुरुक्षेत्रके मैदानमें सुन पड़ा था। इसके बाद भीष्म और द्रोणको आगे करके वे सब राजा और राजकुमार, जिन्होंने युद्धमें वीरगति प्राप्त की थी, सहसा जलमेंसे बाहर निकल आये। युद्धके समय जिस वीरका जैसा वेष था, जैसी ध्वजा थी, जो वाहन थे, वे सब ज्यों-के-त्यों वहाँ दिखायी दिये। वे दिव्य वस्त्र और दिव्य मालाएँ धारण किये हुए थे, सबने चमकते हुए कुण्डल पहन रक्खे थे और सबके शरीर दिव्य प्रभासे चम-चम कर रहे थे। सब-के-सब निर्वैर, निरभिमान, क्रोधरहित और डाहसे शून्य प्रतीत हुए थे। गन्धर्व उनका यश गा रहे थे और बंदीजन स्तुति कर रहे थे। उस समय व्यासजीने धृतराष्ट्रको दिव्य नेत्र दे दिये, जिनसे वे उन सारे योद्धाओंको अच्छी तरह देख सके। वह दृश्य अद्भुत, अचिन्त्य और रोमाञ्चकारी था। सब लोगोंने निर्निमेष नेत्रोंसे उस दृश्यको देखा। इसके बाद सब आये हुए योद्धा अपने-अपने सम्बन्धियोंसे क्रोध और वैर छोड़कर मिले। इस प्रकार रातभर प्रेमियोंका वह समागम जारी रहा। इसके बाद वे सब लोग जिस प्रकार आये थे, उसी प्रकार भागीरथीके जलमें प्रवेश करके अपने-अपने लोकोंमें चले गये। उस समय वेदव्यासजीने जिन स्त्रियोंके पति वीरगतिको प्राप्त हुए थे, उनको सम्बोधन करके कहा कि 'आपमेंसे जो कोई अपने पतिके लोकमें जाना चाहती हों, उन्हें गङ्गाजीके जलमें गोता लगाना चाहिये।' उनके इस वचनको सुनकर बहुत-सी स्त्रियाँ जलमें घुस गयीं और मनुष्यदेहको छोड़कर अपने-अपने पतिके लोकमें चली गयीं। उनके पति जिस प्रकारके दिव्य वस्त्राभूषणोंसे सुसज्जित होकर आये थे, उसी प्रकारके दिव्य वस्त्राभूषणोंको धारणकर तथा विमानोंमें बैठकर वे अपने-अपने अभीष्ट स्थानोंमें पहुँच गयीं।

इधर राजा जनमेजयने वैशम्पायनजीके मुखसे जब यह अद्भुत वृत्तान्त सुना तो उनके मनमें बड़ा कौतूहल हुआ और उन्होंने भी अपने स्वर्गवासी पिता महाराज परीक्षित्के दर्शन करने चाहे। व्यासजी वहाँ मौजूद ही थे। उन्होंने राजाकी इच्छा पूर्ण करनेके लिये उसी समय राजा परीक्षित्को वहाँ बुला दिया। जनमेजयने यज्ञान्त-स्नानके अवसरपर अपने साथ अपने पिताको भी स्नान कराया और इसके बाद परीक्षित् वहाँसे चले गये। इस प्रकार महर्षि वेदव्यासजीने अपने अलौकिक सामर्थ्यका प्रकाश किया। महर्षि वेदव्यास वास्तवमें एक अद्भुत शक्तिशाली महापुरुष थे। महाभारतके रचयिता उन महर्षिके पुनीत चरणोंमें मस्तक नवाकर हम अपने इस लेखको समाप्त करते हैं।

गुरु द्रोणाचार्य

आचार्य द्रोण भरद्वाज मुनिके पुत्र थे। महर्षि भरद्वाज अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ थे। उन्होंने महर्षि अग्निवेशको आग्नेय अस्त्रकी शिक्षा दी थी। अग्निवेश मुनिने अपने गुरुपुत्र द्रोणको आग्नेय नामक महान् अस्त्रकी दीक्षा दी थी। पाञ्चाल देशके राजाका पुत्र द्रुपद भी द्रोणके साथ भरद्वाज मुनिके आश्रममें विद्याध्ययन करता था।

कुछ दिनोंके बाद जब भरद्वाज मुनिका शरीरान्त हो गया तो द्रोण उसी आश्रममें रहकर तपस्या करने लगे। वे वेद-वेदाङ्गोंमें पारङ्गत तो थे ही, तपस्याके द्वारा अति-तेजस्वी हो गये और उनका यश चारों ओर फैल गया। द्रोणाचार्यका ब्याह शरद्वान् मुनिकी पुत्री कृपीसे हुआ था, जो कृपाचार्यकी बहिन थी। कृपीसे द्रोणको एक पुत्र

उत्पन्न हुआ, जो अश्वत्थामाके नामसे अमर हो गया है।

उस समय सर्वज्ञ तथा समस्त शस्त्रास्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ परशुरामजी महेन्द्र पर्वतपर तप करते थे। द्रोणने यह सुनकर कि, परशुरामजीके पास सम्पूर्ण धनुर्वेद तथा दिव्यास्त्रोंका ज्ञान है और वे ब्राह्मणोंको सर्वस्व दान करना चाहते हैं, अपनी शिष्यमण्डलीके साथ वहाँ गये और उनके चरणोंकी वन्दना करके उनसे प्रयोग, रहस्य तथा संहारविधि-सहित सारे अस्त्र-शस्त्रोंका ज्ञान प्राप्त किया। साथ ही रहस्य और व्रतके साथ समस्त धनुर्वेदका उपदेश भी प्राप्त किया।

तत्पश्चात् द्रोण अपने मित्र द्रुपदके पास गये। द्रुपद उस समय पाञ्चाल-नरेश थे। द्रोणने द्रुपदसे कहा—"राजन्! मैं आपका बालसखा हूँ, आपसे मिलने आया हूँ।" मित्र द्रोणके इस प्रकार प्रेमपूर्वक कहनेपर भी द्रुपदको यह बात सह्य न हुई। ऐश्वर्यके मदमें उन्मत्त होकर द्रुपद कहने लगे—"तुम मूढ़ हो। उन पुरानी लड़कपनकी बातोंको अब भी ढो रहे हो। अब उसको मनसे निकाल दो—

न दरिद्रो वसुमतो नाविद्वान् विदुषः सखा।
न शूरस्य सखा क्लीबः सखिपूर्वं किमिष्यते॥

'सच तो यह है कि दरिद्र मनुष्य धनवान्का, मूर्ख विद्वान्का तथा कायर शूरवीरका सखा नहीं हो सकता। अतएव पहलेकी मित्रताका क्या भरोसा करते हो?'

द्रुपदकी यह बात सुनकर द्रोण क्रोधसे जल उठे और बिना कुछ कहे, वहाँसे उठकर हस्तिनापुरकी ओर चल दिये।* वहाँ जाकर कृपाचार्यके घर ठहरे। द्रोणको वहाँ कोई दूसरा नहीं जानता था।

एक दिन कौरव-पाण्डव, सभी वीरकुमार हस्तिनापुरके बाहर गुल्ली-डंडा खेल रहे थे। दैवात् गुल्ली कुएँमें गिर गयी। राजकुमारोंका खेल बंद हो गया। उनकी समझमें नहीं आ रहा था कि क्या करें? इतनेमें एक ब्राह्मणको उधरसे जाते देखकर राजकुमारोंने उनको पकड़ा और गुल्ली कुएँसे निकाल देनेका आग्रह करने लगे। वह ब्राह्मण स्वयं द्रोण थे।

द्रोणने मुट्ठीभर सींकोंको लेकर अभिमन्त्रित करके उसमें बलका संचार किया और एक सींकसे गुल्लीको बींध दिया; उसके बाद उस सींकको दूसरी सींकसे, दूसरीको तीसरीसे—इस प्रकार करते हुए सींकोंकी रस्सी बना दी, और उन लड़कोंने उसे पकड़कर गुल्ली निकाल ली। यह अद्भुत कर्म देखकर राजकुमारोंके नेत्र आनन्दसे खिल उठे। इसके बाद राजकुमारोंने एक अँगूठी कुएँमें डाल दी और द्रोणाचार्यको उसे निकालनेके लिये कहा। द्रोणने उस अँगूठीको भी उसी प्रकार सींकके बाणोंसे बींधकर कुएँसे बाहर निकाल दिया और उन आश्चर्यचकित कुमारोंके हाथमें उसे दे दिया, परंतु वह स्वयं तनिक भी विस्मित न हुए। तब राजकुमार बोले—

अभिवादयामहे ब्रह्मन् नैतदन्येषु विद्यते।
कोऽसि कस्यासि जानीमो वयं किं करवामहे॥
(आदि० १३०। ३४)

'ब्रह्मन्! हम आपको प्रणाम करते हैं। यह अद्भुत अस्त्रकौशल और किसीमें नहीं है। आप कौन हैं, किसके पुत्र हैं, हम जानना चाहते हैं, बताइये—हम आपकी क्या सेवा करें?'

द्रोणने उत्तर दिया—'मेरे रूप और गुणोंकी बात भीष्मसे जाकर कहो, वही तुमलोगोंको मेरा परिचय बता देंगे।'

राजकुमारोंने जाकर भीष्मजीसे सब बातें कह सुनायीं। भीष्मजीने तुरंत समझ लिया कि द्रोणाचार्यके सिवा यह कोई दूसरा व्यक्ति नहीं है। राजकुमारोंके साथ आकर भीष्मने द्रोणका स्वागत किया और उनको आचार्यके पदपर प्रतिष्ठित करके राजकुमारोंकी शिक्षा-दीक्षाका कार्य सौंप दिया। उस समय भीष्मने द्रोणकी अभ्यर्थना जिन शब्दोंमें की थी उससे उस युगके वीर क्षत्रियोंकी ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति-भावनाका अच्छा निदर्शन प्राप्त होता है—

कुरूणामस्ति यद्वित्तं राज्यं चेदं सराष्ट्रकम्।
त्वमेव परमो राजा सर्वे च कुरवस्तव॥
यच्च ते प्रार्थितं ब्रह्मन्कृतं तदिति चिन्त्यताम्।
दिष्ट्या प्राप्तोऽसि विप्रर्षे महान्मेऽनुग्रहः कृतः॥
(आदि० १३०। ७८-७९)

'हे ब्रह्मन्! कुरुवंशका जो धन है तथा राष्ट्रोंके सहित जो यह राज्य है, इसके आप ही परम राजा हैं, और सभी कुरुवंशी आपके सेवक हैं। आपको जिस वस्तुकी इच्छा होगी, उसको आप प्राप्त हुआ ही समझिये। हे विप्रर्षे! आपने बड़ी कृपा की, बड़े भाग्यसे प्राप्त हुए।' उस समय कुरुवंशके राजकुमारोंके लिये गुरु-रूपमें वरण करके भीष्मने द्रोणको बहुत धन प्रदान किया,

* इस अपमानसे द्रोणके मनमें वैर बँध गया। और आगे चलकर जब कौरव-पाण्डव-कुमारोंको धनुर्वेदकी शिक्षा दे चुके तब गुरुदक्षिणामें द्रुपदको पराजित करके पकड़ लानेके लिये कुमारोंसे कहा, और स्वयं सब शिष्योंको सेनासहित लेकर पाञ्चाल देशपर चढ़ाई कर दी। कर्णसहित कौरवोंको तो हार खानी पड़ी, परंतु अर्जुनने भीम तथा सहदेव और नकुलको साथ लेकर युद्ध करके पाञ्चालोंको पराजित करके द्रुपदको पकड़कर द्रोणके सामने उपस्थित कर दिया। द्रोणने द्रुपदके साथ मित्रवत् व्यवहार किया, और कहा कि भागीरथीके दक्षिण आप राज्य करें और उत्तरमें मैं राज्य करूँगा। मुझे आप अपना पूर्ववत् सखा समझें।

और रहनेके लिये धन-धान्यसे भरपूर सुन्दर गृहकी व्यवस्था कर दी।

तत्पश्चात् द्रोणाचार्य राजकुमारोंको शिक्षा देने लगे। द्रुपदद्वारा किये गये अपमानको वे नहीं भूले। एक दिन उन्होंने राजकुमारोंसे कहा कि, "मेरे हृदयमें एक आकाङ्क्षा है, जो मुझे सदा चिन्तित रखती है, उसकी पूर्ति शस्त्रास्त्रके द्वारा हो सकती है। क्या तुममें कोई मेरे इस कार्यको सिद्ध कर सकता है?"—यह सुनकर सब राजकुमार चुप हो गये। केवल अर्जुनने आगे बढ़कर कहा—'गुरुदेव! मैं आपकी उस आकाङ्क्षाको पूरा करनेकी प्रतिज्ञा करता हूँ।'—द्रोणाचार्य अर्जुनके इस उत्तरको सुनकर हर्षित हो उठे। उन्होंने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया। तत्पश्चात् अर्जुनके प्रति आचार्यकी विशेष प्रीति हो गयी और वह आजीवन बनी रही। अर्जुन भी आचार्यके प्रति सबसे अधिक भक्तिभावपूर्ण थे। आचार्यने प्रीतिपूर्वक नाना प्रकारके दिव्य और मानुष शस्त्रास्त्रोंकी शिक्षा राजकुमारोंको दी। गुरु द्रोणकी ख्याति चारों ओर फैल गयी। धीरे-धीरे वृष्णि, अन्धक तथा अन्यान्य देशोंके युवक उनकी सेवामें शस्त्रास्त्र-ज्ञान प्राप्त करने आये। गुरु द्रोणकी कृपा तथा अपनी सेवा और लगनके कारण अर्जुन सब राजकुमारोंमें अग्रगण्य हो गये।

एक बार गुरु द्रोण अपने शिष्योंके साथ वनमें जा रहे थे। राजकुमारोंके साथ एक कुत्ता भी था। राजकुमार मृगयाके लिये वनमें आगे बढ़े, कुत्ता आगे-आगे जा रहा था। अचानक कुत्ता वापस आता दिखायी दिया। राजकुमारोंने देखा कि उसका मुँह बाणोंसे भर गया है। यह देखकर उनको बड़ा आश्चर्य हुआ कि भला यह दूसरा कौन धनुर्धर है जो इतना लघुहस्त है। आचार्य द्रोणके साथ-साथ सब राजकुमार कुत्तेके पीछे-पीछे आगे बढ़े। कुछ दूर जानेपर देखते क्या हैं कि एक भीलकुमार आचार्य द्रोणकी प्रतिमा खड़ी करके उसकी विधिवत् पुष्पादिके द्वारा पूजा कर रहा है। आचार्यने उसे देखते ही पहचान लिया कि वह भीलकुमार एकलव्य है, जिसको भील होनेके कारण आचार्यने शिष्य बनानेसे इन्कार कर दिया था।

आचार्यको देखते ही एकलव्य दौड़कर उनके चरणोंमें गिर पड़ा। द्रोणाचार्य नहीं चाहते थे कि उनके प्रिय शिष्य अर्जुनसे बढ़कर कोई दूसरा धनुर्धर हो, इसलिये जब एकलव्यने कहा कि, 'भगवन्! मैं आपका शिष्य एकलव्य हूँ'—तब द्रोणाचार्यने उससे गुरुदक्षिणामें दाहिने हाथका अँगूठा माँगा। और एकलव्यने प्रसन्नचित्तसे अँगूठा काटकर गुरुके चरणोंमें रख दिया तथा विश्वमें अक्षय कीर्ति प्राप्त की।

द्रोणाचार्य स्वभावतः अपने शिष्यों—कौरवों और पाण्डवों, दोनोंका हित चाहते थे। अतएव पाण्डवोंके साथ किये जानेवाले कौरवोंके अत्याचारको वे पसंद नहीं करते थे। लाक्षागृहकी दुर्घटनाके बाद जब पाण्डवोंका द्रुपदकी राजसभामें द्रौपदीकी प्राप्तिका समाचार हस्तिनापुरमें पहुँचा, तब भीष्मने कहा कि, 'मेरे लिये जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे कौरव हैं। उनको बुलाकर आधा राज्य प्रदान कर देना चाहिये।" इसपर द्रोणाचार्यने कहा था कि—

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः॥
(आदि० २०३।२)

'हे राजन्! मेरा भी यही विचार है जो महात्मा भीष्मका है। और सनातन धर्म भी यही है कि पाण्डवोंको आधा राज्य दे देना चाहिये।'

द्रोणाचार्य अपने प्रिय शिष्य अर्जुनकी, जब अवसर आता, प्रशंसा किये बिना नहीं चूकते थे। आचार्यके मुखसे अर्जुनकी प्रशंसा कर्णको प्रायः असह्य हो उठती थी। पाण्डवोंके अज्ञातवासके बाद गोहरणपर्वमें जब विराटकी गायोंको हाँक ले जानेके लिये कौरव-सेना पहुँची तो आचार्य द्रोण 'एष वीरः महेष्वासः सर्व-शस्त्रभृतां वरः' इत्यादि वाक्योंसे अर्जुनकी प्रशंसा करने लगे, तब कर्ण बोला—

सदा भवान् फाल्गुनस्य गुणैरस्मान् विकत्थसे।
न चार्जुनः कलापूर्णो मम दुर्योधनस्य च॥
(विराट० ३९।१४)

'आप तो सदा अर्जुनके गुणोंका वर्णन करके हमारा अनादर करते रहते हैं, और अर्जुन मेरी और दुर्योधनकी बराबरी नहीं कर सकता।'

इस अवसरपर अर्जुनने विराटकुमार उत्तरसे इस प्रकार आचार्य द्रोणका परिचय दिया है—

दीर्घबाहुर्महातेजा बलरूपसमन्वितः।
सर्वलोकेषु विक्रान्तो भारद्वाजः प्रतापवान्॥
बुद्ध्या तुल्यो ह्युशनसा बृहस्पतिसमो नये।
वेदास्तथैव चत्वारो ब्रह्मचर्यं तथैव च॥
ससंहाराणि सर्वाणि दिव्यान्यस्त्राणि मारिष।
धनुर्वेदश्च कार्त्स्न्येन यस्मिन् नित्यं प्रतिष्ठितः॥
क्षमा दमश्च सत्यं च आनृशंस्यमथार्जवम्।
एते चान्ये च बहवो यस्मिन् नित्यं द्विजे गुणाः॥
तेनाहं योद्धुमिच्छामि महाभागेन संयुगे॥
(विराट० ५८।५—८½)

"भरद्वाज ऋषिके पुत्र आचार्य द्रोण दीर्घबाहु हैं; महातेजस्वी हैं, बलवान् और रूपवान् हैं, सब लोकोंमें विक्रान्त और प्रतापी हैं, बुद्धिमें शुक्राचार्य और नीतिमें बृहस्पतिके तुल्य हैं, चारों वेदोंके ज्ञाता हैं, ब्रह्मचर्य-व्रती हैं, संहार सहित

सारे दिव्य अस्त्रोंके ज्ञाता हैं, सारा धनुर्वेद उनके भीतर प्रतिष्ठित है। क्षमा, दम, सत्य, सौजन्य, सरलता—तथा इसी प्रकारके बहुतसे गुण जिस ब्राह्मणमें नित्य विद्यमान रहते हैं, उस महाभाग आचार्य द्रोणसे मैं युद्ध करना चाहता हूँ।'—अर्जुनकी इस उक्तिसे स्पष्ट हो जाता है कि गुरु द्रोण गुणोंके सिन्धु थे। उन्होंने जब रथपर अर्जुनको युद्धके लिये उद्यत देखा तो भीष्मसे कहा कि 'पाण्डव राज्यसे वञ्चित कर दिये गये हैं, इसलिये आज तपस्याके द्वारा दुर्धर्ष अर्जुन दुर्योधनको क्षमा नहीं कर सकता। अतः हमलोगोंको ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि वह दुर्योधनके पास न पहुँच सके।' अर्जुन उनका प्रिय शिष्य था तथापि आचार्य द्रोण दुर्योधनका अनिष्ट नहीं देख सकते थे। यह उनकी हृदयकी विशालताका द्योतक है।

आचार्य द्रोण भीष्मपितामहकी बातोंका सदा ही समर्थन करते थे; क्योंकि भीष्मकी नीति कौरव और पाण्डवोंमें मेल करानेकी थी, वह गृहयुद्ध पसंद नहीं करते थे। आचार्य द्रोणकी भी यही नीति थी; क्योंकि कौरव और पाण्डव, दोनों ही उनके शिष्य थे। और वे दोनोंका ही कल्याण चाहते थे। कर्ण जब डींग हाँककर पाण्डवोंके विरुद्ध दुर्योधनको बढ़ावा देता था तो भीष्म उसको फटकारते और पाण्डवोंकी शक्तिका बखान करके उनसे संधि करनेका परामर्श कौरवोंको देते। ऐसे अवसरोंपर आचार्य द्रोण बराबर भीष्मका समर्थन करते थे। इसका फल यह हुआ कि दुर्योधन कर्णको तो अपना पक्षपाती, पर भीष्म और द्रोणको पाण्डवोंका पक्षपाती समझता था; परंतु पक्षपातका दोषारोपण मिथ्या था। वे तो दोनोंका ही कल्याण चाहते थे।

वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण जब संधिकार्यमें सफल न हुए, दुरात्मा दुर्योधनने उनकी शुभ सम्मतिकी पूर्ण उपेक्षा कर दी, और युद्ध होना निश्चय हो गया तो बड़े दुःखसे आचार्य द्रोणने कहा—

> अश्वत्थाम्नि यथापुत्रे भूयो मम धनंजये।
> बहुमानः परो राजन् संनतिश्च कपिध्वजे॥
> तं च पुत्रात् प्रियतमं प्रतियोत्स्ये धनंजयम्।
> क्षात्रं धर्ममनुष्ठाय धिगस्तु क्षत्रजीविकाम्॥
> (उद्योग० १३९। ४-५)

'हे राजन्! अश्वत्थामाके समान ही अर्जुनमें मेरी अतिशय प्रीति है। अर्जुन मेरा बड़ा सत्कार करता है और अत्यन्त नम्र रहता है। वह अर्जुन मुझे पुत्रसे भी प्रिय है। क्षात्र धर्मका पालन करनेके लिये उसके विरुद्ध भी मैं युद्ध करूँगा, धिक्कार है इस क्षत्रजीविकाको!'

पश्चात् महाभारतके युद्धमें अद्भुत पराक्रम प्रदर्शित कर आचार्य द्रोण द्रुपद-पुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा मारे गये।

महात्मा विदुर

महात्मा विदुर साक्षात् धर्मके अवतार थे। माण्डव्य ऋषिके शापसे इन्हें शूद्रयोनिमें जन्म ग्रहण करना पड़ा। ये महाराज विचित्रवीर्यकी दासीके गर्भसे उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार ये धृतराष्ट्र और पाण्डुके एक प्रकारसे सगे भाई ही थे। ये बड़े ही बुद्धिमान्, नीतिज्ञ, धर्मज्ञ, विद्वान्, सदाचारी एवं भगवद्भक्त थे। इन्हीं गुणोंके कारण सब लोग इनका बड़ा सम्मान करते थे। ये बड़े निर्भीक एवं सत्यवादी थे तथा धृतराष्ट्र आदिको बड़ी नेक सलाह दिया करते थे। ये धृतराष्ट्रके मन्त्री भी थे। दुर्योधन जन्मते ही गधेकी भाँति रेंकने लगा था और उसके जन्मके समय अनेक अमङ्गलसूचक उत्पात भी हुए। यह सब देखकर इन्होंने ब्राह्मणोंके साथ राजा धृतराष्ट्रसे कहा कि 'आपका यह पुत्र कुलनाशक होगा, इसलिये इसे त्याग देना ही श्रेयस्कर है। इसके जीवित रहनेपर आपको दुःख उठाना पड़ेगा। शास्त्रोंकी आज्ञा है कि कुलके लिये एक मनुष्यका, ग्रामके लिये कुलका, देशके लिये एक ग्रामका और आत्माके लिये सारी पृथ्वीका परित्याग कर देना चाहिये।' धृतराष्ट्रने मोहवश विदुरकी बात नहीं मानी। फलतः उन्हें दुर्योधनके कारण जीवनभर दुःख उठाना पड़ा और अपने जीते-जी कुलका नाश देखना पड़ा। महात्माओंकी हितभरी वाणीपर ध्यान न देनेसे दुःख ही उठाना पड़ता है!

जब दुर्योधन पाण्डवोंपर अत्याचार करने लगा तो इनकी सहानुभूति स्वाभाविक ही पाण्डवोंके प्रति हो गयी; क्योंकि एक तो वे पितृहीन थे और दूसरे धर्मात्मा थे। ये प्रत्यक्षरूपमें तथा गुप्तरूपसे भी बराबर उनकी रक्षा एवं सहायता करते रहते थे। धर्मात्माओंके प्रति धर्मकी सहानुभूति होनी ही चाहिये और विदुर सक्षात् धर्मके अवतार थे। ये जानते थे कि पाण्डवोंपर चाहे कितनी ही विपत्तियाँ क्यों न आवें, अन्तमें विजय उनकी ही होगी—'यतो धर्मस्ततो जयः।' इन्हें यह भी मालूम था कि पाण्डव सब दीर्घायु हैं, अतः उन्हें कोई मार नहीं सकता। इसीलिये जब दुर्योधनने खेल-ही-खेलमें भीमसेनको विष खिलाकर गङ्गाजीमें बहा दिया और उनके घर न लौटनेपर माता कुन्तीको चिन्ताके साथ-साथ दुर्योधनकी ओरसे अनिष्टकी भी आशङ्का हुई तो इन्होंने जाकर उन्हें समझाया कि 'इस समय चुप साध लेना ही अच्छा है। दुर्योधनके प्रति आशङ्का प्रकट करना खतरेसे खाली नहीं है। इससे वह और चिढ़ जायगा, जिससे तुम्हारे दूसरे पुत्रोंपर भी आपत्ति आ सकती है। भीमसेन मर नहीं सकता, वह शीघ्र ही लौट आयेगा।' कुन्तीने विदुरजीकी

नीतिपूर्ण सलाह मान ली । उनकी बात बिल्कुल यथार्थ निकली । भीमसेन कुछ ही दिनों बाद जीते-जागते लौट आये ।

लाक्षाभवनसे बेदाग बचकर निकल भागनेकी युक्ति भी पाण्डवोंको विदुरने ही बतायी थी। ये नीतिज्ञ होनेके साथ-साथ कई भाषाओंके भी जानकार थे। जिस समय पाण्डव लोग वारणावत जा रहे थे, उसी समय इन्होंने म्लेच्छ-भाषामें युधिष्ठिरको उनपर आनेवाली विपत्तिकी सूचना दे दी और साथ ही उससे बचनेका उपाय भी समझा दिया। इतना ही नहीं, इन्होंने पहलेसे ही एक सुरंग खोदनेवालेको लाक्षाभवनमेंसे निकल भागनेके लिये सुरंग खोदनेको कह दिया था। उसने गुप्तरूपसे जमीनके भीतर-ही-भीतर जंगलमें जानेका एक रास्ता बना दिया। लाक्षाभवनमें आग लगाकर पाण्डवलोग माता कुन्तीके साथ उसी रास्तेसे निरापद बाहर निकल आये। गङ्गातटपर इनके पार होनेके लिये विदुरजीने नाविकके साथ एक नौका भी पहलेसे ही तैयार रख छोड़ी थी। उसीसे ये लोग गङ्गापार हो गये। इस प्रकार विदुरजीने बुद्धिमानी एवं नीतिमत्तासे पाण्डवोंके प्राण बचा लिये, दुर्योधन आदिको पता भी न लगने दिया। उन लोगोंने यही समझा कि पाण्डव अपनी माताके साथ लाक्षाभवनमें जलकर मर गये। सर्वत्र केवल शारीरिक बल अथवा अस्त्रबल ही काम नहीं देता। आत्मरक्षाके लिये नीतिबलकी भी आवश्यकता होती है। महात्मा विदुर धर्म एवं शास्त्रज्ञानके साथ-साथ नीतिके भी खजाने थे।

विदुरजी जिस प्रकार पाण्डवोंके प्रति सहानुभूति और प्रेम रखते थे, उसी प्रकार अपने बड़े भाई राजा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके प्रति भी स्नेह और आत्मीयता रखते थे। उनके हितका ये सदा ध्यान रखते थे और उन्हें बराबर अच्छी सलाह दिया करते थे। 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' इस सिद्धान्तके अनुसार अवश्य ही इनकी बातें सत्य एवं हितपूर्ण होनेपर भी दुर्योधनादिको कड़वी लगती थीं। इसीलिये दुर्योधन एवं उसके साथी सदा ही इनसे असंतुष्ट रहते थे। परंतु ये उनकी अप्रसन्नताकी कुछ भी परवा न कर सदा ही उसकी मङ्गल-कामना किया करते थे। और उसे कुमार्गसे हटानेकी अनवरत चेष्टा करते रहते थे। धृतराष्ट्र भी अपने दुरात्मा पुत्रके प्रभावमें होनेके कारण यद्यपि हर समय इनकी बातपर अमल नहीं कर पाते थे और इसीलिये कष्ट भी पाते थे, फिर भी उनका इनपर बहुत अधिक विश्वास था। वे इन्हें बुद्धिमान्, दूरदर्शी एवं अपना परम हितचिन्तक मानते थे और बहुधा इनसे सलाह लिये बिना कोई काम नहीं करते थे। पाण्डवोंके साथ व्यवहार करते समय तो वे खास तौरपर इनकी सलाह लिया करते थे। वे जानते थे कि पाण्डवोंके सम्बन्धमें इनकी सलाह पक्षपातशून्य होगी। अस्तु।

जब मामा शकुनिकी सलाहसे दुष्टबुद्धि दुर्योधन पाण्डवोंके साथ जुआ खेलनेका प्रस्ताव लेकर अपने पिताके पास पहुँचा तो उन्होंने नियमानुसार विदुरजीको सलाहके लिये बुलाया। उसकी बात न माननेपर दुर्योधनने उन्हें प्राण त्याग देनेका भय दिखलाया; परंतु उन्होंने उसे स्पष्ट कह दिया कि 'विदुरजीसे सलाह लिये बिना मैं तुम्हें जुआ खेलनेकी आज्ञा कदापि नहीं दे सकता।' दुर्योधनका पापपूर्ण प्रस्ताव सुनकर विदुरजीने समझ लिया कि अब कलियुग आनेवाला है। इन्होंने उस प्रस्तावका घोर विरोध किया और अपने बड़े भाईको समझाया कि 'जुआ खेलनेसे आपके पुत्रों और भतीजोंमें वैर-विरोध ही बढ़ेगा, उनमेंसे किसीका भी हित नहीं होगा। इसलिये द्यूतका आयोजन न करना ही अच्छा है। इसीमें दोनों ओरका मङ्गल है।' धृतराष्ट्रने विदुरजी एवं उनके मतकी प्रशंसा करते हुए दुर्योधनको बहुत समझाया, परंतु उसने इनकी एक न मानी। वह तो जुएमें हराकर पाण्डवोंको नीचा दिखानेपर तुला हुआ था। उससे पाण्डवोंका अतुल वैभव देखा नहीं जाता था। दुर्योधनको किसी तरह न मानते देखकर अन्तमें धृतराष्ट्रने उसका प्रस्ताव स्वीकार कर लिया और विदुरजीके द्वारा ही पाण्डवोंको इन्द्रप्रस्थसे बुलवा भेजा। यद्यपि विदुरजीको यह बात अच्छी नहीं लगी, फिर भी बड़े भाईकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना इन्होंने ठीक नहीं समझा।

पाण्डवोंके पास जाकर विदुरजीने उन्हें सारी बात कह सुनायी। महाराज युधिष्ठिरने भी जुएको अच्छा न समझते हुए भी अपने ताऊकी आज्ञा मानकर दुर्योधनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। जुएके समय भी इन्होंने जुएकी बुराइयाँ बताते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा कि 'आप अब भी सँभल जाइये, दुर्योधनकी 'हाँ' में 'हाँ' मिलाना छोड़ दीजिये और कुलको सर्वनाशसे बचाइये। पाण्डवोंसे विरोध करके उन्हें अपना शत्रु न बनाइये।' पाण्डवोंके वनमें चले जानेपर धृतराष्ट्रके मनमें बड़ी चिन्ता और जलन हुई। उन्होंने विदुरजीको बुलाकर अपने मनकी व्यथा सुनायी और उनसे यह जानना चाहा कि 'अब हमें किस प्रकार व्यवहार करना चाहिये कि जिससे प्रजा हमपर संतुष्ट रहे और पाण्डव भी क्रोधित होकर हमारी कोई हानि न कर सकें।' इसपर विदुरजीने उन्हें समझाया कि 'राजन्! अर्थ, धर्म और काम—इन तीनों फलोंकी प्राप्ति धर्मसे ही होती है। राज्यकी जड़ है धर्म; अतः आप धर्ममें स्थित होकर पाण्डवोंकी और अपने पुत्रोंकी रक्षा कीजिये। आपके पुत्रोंने शकुनिकी सलाहसे

भरी सभामें धर्मका तिरस्कार किया है; क्योंकि सत्यसन्ध युधिष्ठिरको कपटद्यूतमें हराकर उन्होंने उनका सर्वस्व छीन लिया है, यह बड़ा अधर्म हुआ है। इसके निवारणका मेरी दृष्टिमें एक ही उपाय है, वैसा करनेसे आपका पुत्र पाप और कलङ्कसे छूटकर प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। वह उपाय यह है कि आपने पाण्डवोंका जो कुछ छीन लिया है, वह सब उन्हें लौटा दिया जांय। राजाका यह परम धर्म है कि वह अपने ही हकमें संतुष्ट रहे, दूसरेका हक न चाहे। जो उपाय मैंने बतलाया है, उससे आपका लाञ्छन छूट जायगा, भाई-भाईमें फूट नहीं पड़ेगी और अधर्म भी न होगा। यदि आपके पुत्रोंका तनिक भी सौभाग्य शेष रह गया हो तो शीघ्र-से-शीघ्र यह काम कर डालना चाहिये। यदि आप मोहवश ऐसा नहीं करेंगे तो सारे कुरुवंशका नाश हो जायगा। यदि आपका पुत्र दुर्योधन प्रसन्नतासे यह बात स्वीकार कर ले, तब तो ठीक है; अन्यथा परिवार और प्रजाके सुखके लिये उस कुलकलङ्क और दुरात्माको कैद करके युधिष्ठिरको राज-सिंहासनपर बैठा दीजिये। युधिष्ठिरके चित्तमें किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं है, इसलिये वे ही धर्मपूर्वक पृथ्वीका शासन करें। दुःशासन भरी सभामें भीमसेन और द्रौपदीसे क्षमा-याचना करे। और तो क्या कहूँ; बस, इतना करनेसे आप कृतकृत्य हो जायँगे।'

विदुरजीकी यह मन्त्रणा कितनी सच्ची, हितपूर्ण, धर्मयुक्त और निर्भीक थी। परंतु जिस प्रकार मरणासन्नको ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार धृतराष्ट्रको विदुरजीकी यह सलाह पसंद नहीं आयी। वे विदुरजीपर खीझ गये और बोले—'विदुर! अब मुझे तुम्हारी कोई आवश्यकता नहीं है; तुम्हारी इच्छा हो तो यहाँ रहो अथवा चले जाओ। मैं देखता हूँ कि तुम बार-बार पाण्डवोंका ही पक्ष लेते हो। भला, मैं उनके लिये अपने पुत्रोंको कैसे छोड़ दूँ?' विदुरजीने देखा, अब कौरव-कुलका नाश अवश्यम्भावी है; इसलिये वे चुपचाप उठकर वहाँसे चल दिये और तुरंत रथपर सवार होकर पाण्डवोंके पास काम्यकवनमें चले गये। वहाँ पहुँचकर इन्होंने पाण्डवोंको हस्तिनापुरसे चले आनेका कारण बतलाया और उन्हें प्रसङ्गवश बड़े कामकी बातें कहीं। इधर जब धृतराष्ट्रको विदुरजीके पाण्डवोंके पास चले जानेकी बात मालूम हुई तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने सोचा कि विदुरकी सहायता और सलाह पाकर तो पाण्डव और भी बलवान् हो जायँगे! तब तो उन्होंने तुरंत संजयको भेजकर विदुरजीको बुलवा भेजा। विदुरजी तो सर्वथा राग-द्वेषशून्य थे। उनके मनमें धृतराष्ट्रके प्रति तनिक भी रोष नहीं था। बड़े भाईकी आज्ञा पाकर जिस प्रकार वे हस्तिनापुरसे चले आये थे, उसी प्रकार इस बार लौट जानेकी आज्ञा पाकर वे वापस उनके पास लौट गये। वहाँ जाकर इन्होंने धृतराष्ट्रसे कहा कि 'मेरे लिये पाण्डव और आपके पुत्र एक-से हैं; फिर भी पाण्डवोंको असहाय देखकर मेरे मनमें स्वाभाविक ही उनकी सहायता करनेकी बात आ जाती है। मेरे चित्तमें आपके पुत्रोंके प्रति कोई द्वेषभाव नहीं है।' बात सचमुच ऐसी ही थी। धृतराष्ट्रने भी इनसे अपने अनुचित व्यवहार-के लिये क्षमा माँगी। विदुरजी पूर्ववत् ही धृतराष्ट्रके पास रहकर उनकी सेवा करने लगे।

एक समय धृतराष्ट्रको रातमें नींद नहीं आयी। तब उन्होंने रातमें ही विदुरजीको बुलाकर उनसे शान्तिका उपाय पूछा। उस समय विदुरजीने धृतराष्ट्रको धर्म और नीतिका जो सुन्दर उपदेश दिया, वह विदुरनीतिके नामसे उद्योगपर्वके ३३ से ४० तक आठ अध्यायोंमें संगृहीत है। वह स्वतन्त्ररूपसे अध्ययन और मनन करनेकी चीज है। महाभारताङ्कके प्रथम खण्डमें पृष्ठ ५४६ से ५६२ तक उसका अविकल अनुवाद छापा गया था।

विदुरजीके भाषणको सुनकर धृतराष्ट्रकी तृप्ति नहीं हुई। उन्होंने उनके मुखसे और भी कुछ सुनना चाहा। उन्होंने कहा—'राजन्! मुझे जो कुछ सुनाना था, वह मैं आपको सुना चुका, अब ब्रह्माजीके पुत्र सनत्सुजात नामक जो सनातन ऋषि हैं, वे ही आपको तत्त्वविषयक उपदेश करेंगे। तत्त्वोपदेश करनेका मुझे अधिकार नहीं है; क्योंकि मेरा जन्म शूद्राके गर्भसे हुआ है।' यह कहकर उन्होंने उसी समय महर्षि सनत्सुजातका स्मरण किया और वे तुरंत वहाँ उपस्थित हो गये। सनत्सुजातजीने राजा धृतराष्ट्रके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए परमात्माके स्वरूप तथा उनके साक्षात्कारके विषयमें बड़ा सुन्दर विवेचन किया। इस प्रकार विदुरजीने स्वयं तो धृतराष्ट्रको धर्म और नीतिकी बात सुनायी ही, सनत्सुजात जैसे सिद्ध-योगी एवं परमर्षिद्वारा उन्हें तत्त्वका उपदेश कराकर उनके कल्याणका मार्ग प्रशस्त किया। विदुरजीके द्वारा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंके लिये जो कुछ भी चेष्टा होती थी, वह उनके कल्याणके लिये ही होती थी। महात्माओंका जीवन ही दूसरोंके कल्याणके लिये ही होता है। यद्यपि विदुरजी तत्त्वज्ञानी थे, फिर भी शूद्र होनेके नाते उन्होंने स्वयं उपदेश न देकर सनातन मर्यादाकी रक्षा की और इस प्रकार जगत्को अपने आचरणके द्वारा यह उपदेश दिया कि ज्ञानीके लिये भी शास्त्रमर्यादाकी रक्षा आवश्यक है। सनत्सुजातजीका यह उपदेश 'सनत्सुजातीय'के नामसे उद्योगपर्वके ही ४१ से ४६ तक छः अध्यायोंमें संगृहीत है। इसका भाषान्तर भी महाभारताङ्कके प्रथम खण्डमें पृष्ठ ५७० से ५८१ तक अविकलरूपसे छापा गया था। पाठकोंको वहाँ तथा महाभारतमें उसे पूरा देखना चाहिये।

विदुरजी ज्ञानी एवं तत्त्वदर्शी होनेके साथ-साथ अनन्य भगवद्भक्त भी थे। इनकी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें

निश्छल प्रीति थी । भगवान् श्रीकृष्ण भी इन्हें बहुत मानते थे । वे जब पाण्डवोंके दूत बनकर हस्तिनापुर गये, उस समय वे राजा धृतराष्ट्र एवं उनके सभासदोंसे मिलकर सीधे विदुरजीके यहाँ पहुँचे और उनका आतिथ्य स्वीकार किया । इसके बाद वे अपनी बूआ कुन्तीसे मिले । इतना ही नहीं, दुर्योधनके यहाँ जानेपर जब दुर्योधनने सम्बन्धी होनेके नाते श्रीकृष्णसे भोजनके लिये प्रार्थना की तो उन्होंने साफ इनकार कर दिया और पुनः विदुरके यहाँ चले आये । वहाँ भीष्म, द्रोण, कृप, बाह्लीक आदि कई सम्भावित लोग उनसे मिलने आये और उन सबने श्रीकृष्णसे अपने यहाँ चलकर आतिथ्य ग्रहण करनेकी प्रार्थना की; परन्तु श्रीकृष्णने सम्मानपूर्वक सबको विदा कर दिया और उस दिन विदुरके यहाँ ही पहले ब्राह्मणोंको भोजन कराके स्वयं भोजन किया । इस घटनासे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि विदुरका श्रीकृष्णके प्रति कैसा अनुराग था । श्रीकृष्णका तो विरद ही ठहरा—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥
(गीता ९ । २६)

—प्रेमशून्य बड़ी-बड़ी तैयारियाँ और राजसी ठाट-बाट उन्हें आकर्षित नहीं कर सकते, किन्तु प्रेमके रससे परिप्लुत रूखा-सूखा भोजन भी उनकी तृप्तिके लिये पर्याप्त होता है ।

भोजनके बाद रात्रिमें भी श्रीकृष्ण विदुरके यहाँ ही रहे और सारी रात उन्हें बातें करते बीत गयी । सबेरे नित्यकर्मसे निवृत्त होकर श्रीकृष्ण कौरवोंकी सभामें चले गये । वहाँ जब दुर्योधनने श्रीकृष्णको पकड़कर कैद करनेका दुःसाहसपूर्ण विचार किया, उस समय विदुरजीने श्रीकृष्णके बल एवं महिमाका वर्णन करते हुए उसे यह बतलाया कि 'ये साक्षात् सर्वतन्त्रस्वतन्त्र ईश्वर हैं; यदि तुम इनका तिरस्कार करनेका साहस करोगे तो उसी प्रकार नष्ट हो जाओगे, जैसे अग्निमें गिरकर पतंगा नष्ट हो जाता है ।' इसके बाद जब भगवान् श्रीकृष्णने अपना विश्वरूप प्रकट किया, उस समय सब लोगोंने भयभीत होकर अपने-अपने नेत्र मूँद लिये । केवल द्रोणाचार्य, भीष्म, विदुर, सञ्जय और उपस्थित ऋषिलोग ही उनका दर्शन कर सके; क्योंकि भगवान्ने इन सबको दिव्यदृष्टि दे दी थी । थोड़ी ही देर बाद अपनी इस लीलाको समेटकर भगवान् श्रीकृष्ण वापस उपप्लव्यकी ओर चले गये, जहाँसे वे आये थे । विदुरजी भी और लोगोंके साथ कुछ दूरतक उन्हें पहुँचानेके लिये गये और फिर उनसे विदा लेकर वापस चले आये ।

श्रीकृष्णके असफल लौट जानेपर दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं । अठारह अक्षौहिणी सेना लेकर दोनों दल कुरुक्षेत्रके मैदानपर एकत्रित हुए और अठारह दिनोंमें ही अठारह अक्षौहिणी सेना घासकी तरह कट गयी । राजा धृतराष्ट्र अपने सौ-के-सौ पुत्रों तथा पौत्रोंका विनाश हो जानेसे बड़े दुखी हुए । उस समय विदुरजीने मृत्युकी अनिवार्यताका निरूपण करते हुए यह बतलाया कि युद्धमें मारे जानेवालोंकी तो बड़ी उत्तम गति होती है; अतः उनके लिये तो शोक करना ही नहीं चाहिये ।' उन्होंने यह भी बतलाया कि 'जितनी बार प्राणी जन्म लेता है, उतनी ही बार वह अलग-अलग व्यक्तियोंसे सम्बन्ध जोड़ता है और मृत्युके बाद वे सारे सम्बन्ध स्वप्नकी भाँति विलीन हो जाते हैं । इसलिये भी मरे हुए सम्बन्धियोंके लिये शोक करना बुद्धिमानी नहीं है । फिर सुख-दुःखसे सम्बन्ध रखनेवाली संयोग-वियोग आदि जितनी भी घटनाएँ होती हैं, वे सब अपने ही द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मोंके फलरूपमें प्राप्त होती हैं और कर्मफल सभी प्राणियोंको भोगना ही पड़ता है ।' इसके बाद विदुरजीने संसारकी अनित्यता, निःसारता और परिवर्तनशीलता, जन्म और मृत्युके क्लेश, जीवका अविवेक, मृत्युकी दृष्टिसे सबकी समानता तथा धर्मके आचरणका महत्त्व बतलाते हुए संसारके दुःखोंसे छूटनेके उपायोंका दिग्दर्शन कराया ।

युधिष्ठिरका राज्याभिषेक हो जानेके बाद जब धृतराष्ट्र पाण्डवोंके पास रहने लगे, तब विदुरजी भी धृतराष्ट्रके समीप रहकर उन्हें धर्मचर्चा सुनाया करते थे । वहाँसे जब धृतराष्ट्र और गान्धारीने वन जानेका निश्चय किया तो ये भी उनके साथ हो लिये । वहाँ जाकर विदुरजीने घोर तपस्याका व्रत ले लिया । वे निराहार रहकर निर्जन वनमें एकान्तवास करने लगे । शून्य वनमें कभी-कभी लोगोंको दर्शन हो जाया करता था । कुछ दिनों बाद जब महाराज युधिष्ठिर अपने समस्त परिवार एवं सेनाको साथ लेकर वनमें अपने ताऊ-ताई तथा माता कुन्तीसे मिलने आये और वहाँ विदुरजीको न देखकर उनके विषयमें राजा धृतराष्ट्रसे पूछने लगे, उसी समय उन्हें विदुरजी दूरपर दिखायी दिये । वे सिरपर जटा धारण किये हुए थे, मुखमें पत्थर दबाये थे और दिगम्बर वेष बनाये हुए थे । उनके धूलिधूसरित दुर्बल शरीरपर नसें उभर आयी थीं, मैल जम गया था । वे आश्रमकी ओर देखकर लौटे जा रहे थे । युधिष्ठिर उनसे मिलनेके लिये उनके पीछे दौड़े और जोर-जोरसे अपना नाम बताकर उन्हें पुकारने लगे । घोर जंगलमें पहुँचकर विदुरजी एक वृक्षका सहारा लेकर स्थिर भावसे खड़े हो गये । राजा युधिष्ठिरने देखा कि विदुरजीका शरीर अस्थिपञ्जरमात्र रह गया है, वे बड़ी कठिनतासे पहचाने जाते थे । युधिष्ठिरने उनके सामने जाकर उनकी पूजा की, विदुरजी समाधिस्थ होकर निर्निमेष

दृष्टिसे युधिष्ठिरकी ओर देखने लगे । इसके बाद वे योगबलसे अपने अङ्गोंको युधिष्ठिरके अङ्गोंमें, इन्द्रियोंको उनकी इन्द्रियोंमें तथा प्राणोंको प्राणोंमें मिलाकर उनके शरीरमें प्रवेश कर गये । उनका शरीर निर्जीव होकर उसी भाँति वृक्षके सहारे खड़ा रह गया । इस प्रकार साक्षात् धर्मके अवतार महात्मा विदुर धर्ममय जीवन बिताकर अन्तमें धर्ममूर्ति महाराज युधिष्ठिरके ही शरीरमें प्रवेश कर गये । बोलो धर्मकी जय !

दिव्यदृष्टि संजय

संजय महाराज धृतराष्ट्रके मन्त्री थे । ये जातिके सूत थे । ये बड़े स्वामिभक्त, बुद्धिमान्, नीतिज्ञ एवं धर्मज्ञ थे । ये सत्यवादी एवं निर्भीक भी थे । ये धृतराष्ट्रको बड़ी अच्छी सलाह देते थे । और उनके हितकी दृष्टिसे कभी-कभी कड़ी बातें भी कह दिया करते थे । इन्होंने अन्ततक धृतराष्ट्रका साथ दिया । ये महर्षि वेदव्यासके कृपापात्र तथा अर्जुन एवं भगवान् श्रीकृष्णके प्रेमी थे । ये दुर्योधनके अत्याचारोंका बड़े जोरोंसे प्रतिवाद करते थे और उनका समर्थन होनेपर धृतराष्ट्रको भी फटकार दिया करते थे । जब पाण्डव दूसरी बार जुएमें हारकर वनमें रहने लगे थे, उस समय इन्होंने पाण्डवोंके साथ दुर्योधनके अनुचित बर्तावकी बड़ी कड़ी आलोचना करते हुए राजा धृतराष्ट्रसे कहा—'महाराज ! अब यह निश्चित है कि आपके कुलका तो नाश होगा ही, निरीह प्रजा भी न बचेगी । भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और विदुरजीने आपके पुत्रको बहुत मना किया; फिर भी उस निर्लज्जने पाण्डवोंकी प्रिय पत्नी धर्मपरायणा द्रौपदीको सभामें बुलवाकर अपमानित किया । विनाशकाल समीप आनेपर बुद्धि मलिन हो जाती है, अन्याय भी न्यायके समान दीखने लगता है । आपके पुत्रोंने अयोनिजा, पतिपरायणा, अग्नि-वेदीसे उत्पन्न सुन्दरी द्रौपदीको भरी सभामें अपमानित कर भयङ्कर युद्धको न्योता दिया है । ऐसा निन्दनीय कर्म दुष्ट दुर्योधनके अतिरिक्त और कोई नहीं कर सकता ।' क्या कोई निर्भीक-से-निर्भीक मन्त्री राजाके सामने युवराजके प्रति इतनी कड़ी किन्तु सच्ची बात कह सकता है ? शास्त्रोंमें भी कहा है—'अप्रियस्य च पथ्यस्य श्रोता वक्ता च दुर्लभः ।' धृतराष्ट्रने संजयकी बातका अनुमोदन करते हुए अपनी कमजोरीको स्वीकार किया, जिसके कारण वे दुर्योधनके उस अत्याचारको रोक नहीं सके थे ।

संजय सामनीतिके बड़े पक्षपाती थे । इन्होंने युद्धको रोकनेकी बहुत चेष्टा की और दोनों ही पक्षोंको युद्धकी बुराइयाँ बतलाकर तथा आपसकी फूटके दुष्परिणामकी ओर ध्यान आकर्षित करते हुए बहुत समझाया । पाण्डवोंने तो इनकी बात मान ली; परन्तु दुर्योधनने इनके सन्धिके प्रस्तावको तिरस्कारपूर्वक ठुकरा दिया, जिससे युद्ध करना अनिवार्य हो गया । दैवका विधान ऐसा ही था । कौरवोंके पक्षमें भीष्म, द्रोण, विदुर और संजयका मत प्रायः एक होता था, क्योंकि ये चारों ही धर्मके पक्षपाती थे और हृदयसे पाण्डवोंके साथ सहानुभूति रखते थे । ये चारों ही राजा धृतराष्ट्र एवं उनके पुत्रोंकी अप्रसन्नताकी तनिक भी परवा न कर उन्हें सच्ची बात कहनेमें कभी नहीं हिचकते थे और सच्ची बात प्रायः कड़वी होती ही है ।

जब धृतराष्ट्रने अपनी ओरसे पाण्डवोंके साथ बात-चीत करनेके लिये संजयको उपप्लव्यमें भेजा, तब संजयने जाकर पाण्डवोंकी सच्ची प्रशंसा करते हुए उन्हें युद्धसे विरत होनेकी ही सलाह दी । उन्होंने कहा कि 'युद्धसे अर्थ और धर्म कुछ भी नहीं सधनेका । सन्धि ही शान्तिका सर्वोत्तम उपाय है और राजा धृतराष्ट्र भी शान्ति ही चाहते हैं, युद्ध नहीं ।' श्रीकृष्ण और अर्जुनके विशेष कृपापात्र होनेके नाते इन्हें यह पूरा विश्वास था कि ये लोग मेरी बातको कभी नहीं टालेंगे । अर्जुनके सम्बन्धमें तो इन्होंने यहाँतक कह दिया कि 'अर्जुन तो मेरे माँगनेपर अपने प्राणतक दे सकते हैं ।' इससे यह बात सिद्ध होती है कि संजय अर्जुन और श्रीकृष्णके अनन्य प्रेमी थे । युधिष्ठिरने बड़े प्रेमसे संजयकी बातका समर्थन किया, परन्तु उन्होंने सन्धिकी यही शर्त रक्खी कि उन्हें इन्द्रप्रस्थका राज्य लौटा दिया जाय । भगवान् श्रीकृष्ण-ने भी धर्मराजका समर्थन किया और संजय युधिष्ठिरका सन्देश लेकर वापस हस्तिनापुर चले आये । धृतराष्ट्रके पास जाकर पहले तो इन्होंने एकान्तमें उन्हें खूब फटकारा और पीछे सबके सामने पाण्डवोंका धर्मयुक्त सन्देश सुनाकर उनकी युद्धकी तैयारी तथा पाण्डव-पक्षके वीरोंके बलका विशदरूपसे वर्णन किया । साथ ही इन्होंने अर्जुन और श्रीकृष्णकी अभिन्नता सिद्ध करते हुए उन्हें बतलाया कि दोनों एक दूसरेके साथ कैसे घुले-मिले हैं । इन्होंने कहा कि 'जिस समय मैं श्रीकृष्ण और अर्जुनसे मिलने गया, उस समय वे दोनों अन्तःपुरमें थे । वे जिस महलमें थे, वहाँ अभिमन्यु और नकुल-सहदेवतकका प्रवेश नहीं था । वहाँ पहुँचनेपर मैंने देखा कि श्रीकृष्ण अपने दोनों चरण अर्जुनकी गोदमें रक्खे हुए हैं तथा अर्जुनके पैर द्रौपदी और सत्यभामाकी गोदमें हैं ।' संजयके इस वर्णनसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी अभिन्नता तो सिद्ध होती ही है, साथ ही यह भी प्रमाणित होता है कि संजय श्रीकृष्ण और अर्जुनके अनन्य प्रेमी थे । जिस स्थानमें अभिमन्यु और नकुल-सहदेवका भी प्रवेश नहीं था और जहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुन अपनी पटरानियोंके साथ एकान्तमें बिल्कुल निःसंकोचभावसे बैठे थे, वहाँ संजयका बेरोक-टोक चले जाना और उनकी एकान्त-

गोष्ठीमें सम्मिलित होना इस बातको सिद्ध करता है कि इनका भी श्रीकृष्ण और अर्जुनके साथ बहुत खुला व्यवहार था।

संजय भगवान्‌के प्रेमी तो थे ही, इन्हें भगवान्‌के स्वरूपका भी पूरा ज्ञान था। इन्होंने आगे चलकर महर्षि वेदव्यास, देवी गान्धारी तथा महात्मा विदुरके सामने राजा धृतराष्ट्रको श्रीकृष्णकी महिमा सुनायी और उन्हें सारे लोकोंका स्वामी बतलाया। इसपर धृतराष्ट्रने उनसे पूछा कि 'श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं—इस बातको तुमने कैसे जान लिया और मैं उन्हें इस रूपमें क्यों नहीं पहचान सका?' इसके उत्तरमें संजयने वेदव्यासजीके सामने इस बातको स्वीकार किया कि 'मैंने ज्ञानदृष्टिसे ही श्रीकृष्णको पहचाना है, बिना ज्ञानके कोई उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं जान सकता। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी बतलाया कि 'मैं कभी कपटका आश्रय नहीं लेता, किसी मिथ्या धर्मका आचरण नहीं करता तथा ध्यानयोगके द्वारा मेरा अन्तःकरण शुद्ध हो गया है। इसीलिये मुझे श्रीकृष्णके स्वरूपका ज्ञान हो गया है।' इसके बाद स्वयं वेदव्यासजीने संजयकी प्रशंसा करते हुए धृतराष्ट्रसे कहा कि 'इसे पुराणपुरुष श्रीकृष्णके स्वरूपका पूरा ज्ञान है, अतः यदि तुम इसकी बात सुनोगे तो यह तुम्हें जन्म-मरणके महान् भयसे मुक्त कर देगा।' संजयके ज्ञानी होनेका इससे बढ़कर प्रमाण और क्या होगा। इसके बाद धृतराष्ट्रने संजयसे पूछा—'भैया! मुझे कोई ऐसा निर्भय मार्ग बताओ, जिसपर चलकर मैं भी भगवान् श्रीकृष्णको जान सकूँ और उनका परमपद पा सकूँ।' संजयने उन्हें बताया कि 'इन्द्रियोंको जीते बिना कोई श्रीकृष्णको नहीं पा सकता और इन्द्रियाँ भोगोंके त्यागसे ही जीती जा सकती हैं। प्रमाद, हिंसा और भोग—इन तीनोंका त्याग ही ज्ञानका साधन है। इन्हींके त्यागसे परम पदकी प्राप्ति सम्भव है।' अन्तमें संजयने भगवान् श्रीकृष्णके कुछ नामोंकी बड़ी सुन्दर व्याख्या करके धृतराष्ट्रको सुनायी। इससे संजयके शास्त्रज्ञानका भी पता लगता है।

जब दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ पूरी हो चुकीं और दोनों पक्षोंकी सेनाएँ कुरुक्षेत्रमें जा डटीं, उस समय महर्षि वेदव्यासजीने संजयको दिव्यदृष्टिका वरदान देते हुए धृतराष्ट्रसे कहा—'राजन्! यह संजय तुम्हें युद्धका वृत्तान्त सुनायेगा। सम्पूर्ण युद्धक्षेत्रमें कोई भी ऐसी बात न होगी, जो इससे छिपी रहे। यह दिव्यदृष्टिसे सम्पन्न और सर्वज्ञ हो जायगा। सामनेकी अथवा परोक्षकी, दिनमें होनेवाली या रातमें होनेवाली तथा मनमें सोची हुई बात भी इसे मालूम हो जायगी। इतना ही नहीं, शस्त्र इसे काट नहीं सकेंगे, परिश्रमसे इसे थकान नहीं मालूम होगी और युद्धसे यह जीता-जागता निकल आयेगा।'

बस, उसी समयसे भगवान् वेदव्यासकी कृपासे संजयकी दिव्यदृष्टि हो गयी। वे वहीं बैठे युद्धकी सारी बातें प्रत्यक्षकी भाँति जान लेते थे और उन्हें ज्यों-की-त्यों महाराज धृतराष्ट्रको सुना देते थे। कोसोंके विस्तारवाले कुरुक्षेत्रके मैदानमें जहाँ अठारह अक्षौहिणियाँ आपसमें जूझ रही थीं। कौन वीर कहाँ किस समय किससे लड़ रहा है, वह किस समय किसपर कितने और कौन-कौन-से अस्त्रोंका प्रयोग करता है, कितनी बार कितने पैंतरे बदलता है और किस प्रकार किस कौशलसे शत्रुका वार बचाता है, उसका कैसा रूप है और कैसा वाहन है—ये सब बातें वे एक ही जगह बैठे जान लेते थे। भगवद्गीताका उपदेश भी जिस प्रकार श्रीकृष्णने अर्जुनको दिया, वह सब इन्होंने अपने कानोंसे सुना (गीता १८। ७४-७५)। केवल सुना ही नहीं, उपदेश देते समय श्रीकृष्णकी जैसी मुखमुद्रा थी, जो भावभंगी थी तथा जो उनका रूप था, वह इन्हें प्रत्यक्षकी भाँति ही दिखायी देता था। इतना ही नहीं, जिस समय भगवान्‌ने अर्जुनको अपना विश्वरूप दिखलाया, जिसे अर्जुनके सिवा और किसीने पहले नहीं देखा था और जिसके सम्बन्धमें स्वयं भगवान्‌ने उनसे कहा कि 'वेद और यज्ञोंके अध्ययनसे, दानसे, क्रियाओंसे तथा उग्र तपस्याओंसे भी कोई दूसरा इस रूपका दर्शन नहीं कर सकता (गीता ११। ४८), उस समय संजयने भी उस रूपको उसी प्रकार देखा जिस प्रकार अर्जुन देख रहे थे। इसके बाद जब भगवान्‌ने अपने विश्वरूपको समेटकर अर्जुनको चतुर्भुजरूपमें दर्शन दिया, जिसका दर्शन भगवान्‌ने देवताओंके लिये भी दुर्लभ बताया है तथा जिसके सम्बन्धमें उन्होंने बताया कि तप, दान और यज्ञसे भी उसका दर्शन नहीं प्राप्त किया जा सकता (गीता ११। ५३), तब उसी दिव्य झाँकीका दर्शन महाभाग संजयको भी हस्तिनापुरमें बैठे ही प्राप्त हो गया। उसी प्रसङ्गमें भगवान्‌ने अर्जुनको यह भी बताया कि 'केवल अनन्यभक्तिसे ही मेरे इस रूपका दर्शन सम्भव है।' (गीता ११। ५४), इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि संजयको भी भगवान्‌की वह अनन्यभक्ति प्राप्त थी, जिसके कारण उन्हें भगवान्‌की उस दिव्य झाँकीका दर्शन हो सका। गीता सुननेके बाद भी उस रूपकी स्मृति संजयके लिये एक अलौकिक आनन्दकी सामग्री हो गयी। उन्होंने स्वयं अपनी उस उल्लासपूर्ण स्थितिका वर्णन करते हुए कहा है—

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः॥
तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः॥

(गीता १८। ७६-७७)

इससे यह सिद्ध होता है कि उनका श्रीकृष्ण और अर्जुनमें जो श्रद्धा-प्रेम था वह विवेकपूर्वक था; क्योंकि वे उनके यथार्थ प्रभावको भी जानते थे। उन्होंने युद्धके पूर्व ही उनकी विजय घोषित करते हुए कह दिया था कि—

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम॥
(गीता १८। ७८)

युद्ध-समाप्तिके बाद कुछ दिन महाराज युधिष्ठिरके पास रहकर जब धृतराष्ट्र-गान्धारी वनकी ओर जाने लगे तो संजय भी उनके साथ हो लिये। वहाँ भी इन्होंने अपने स्वामीकी सब प्रकारसे सेवा की। और जब उन्हें देवी गान्धारी और कुन्तीके सहित दावाग्निने घेर लिया तो ये उन्हींकी आज्ञासे वनवासी मुनियोंको उनके शरीर-त्यागकी बात कहनेके लिये उन्हें छोड़कर आश्रममें चले आये और वहाँसे हिमालयकी ओर चले गये। इस प्रकार संजयका जीवन भी एक महान् जीवन था। उनके जीवनसे हमें यह शिक्षा मिलती है कि मनुष्य चाहे किसी भी वर्ण अथवा जातिका क्यों न हो, भगवान्‌की कृपासे वह कुछ-का-कुछ बन सकता है।

वीर सात्यकि

जिस वृष्णिकुलमें भगवान् श्रीकृष्णका जन्म हुआ था, सात्यकि उसी कुलके एक रत्न थे। महाभारतके युद्धके अन्तमें जीवित रहनेवाले पाण्डवपक्षके आठ वीरोंमें एक सात्यकि भी थे। सात्यकिने अर्जुनसे युद्धविद्याकी शिक्षा ग्रहणकी थी, ये भगवान् श्रीकृष्णके समान ही पाण्डवोंके प्रिय तथा हित-चिन्तक थे। ये बड़े ही स्पष्ट वक्ता थे। पाण्डवोंके अज्ञात वनवासके बाद जब विराटकी राजसभामें युद्ध या शान्तिके प्रश्नपर भाषण चल रहे थे, उस समय सात्यकिने जो व्याख्यान दिया था, उससे उनके व्यक्तित्वपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। ये कहते हैं कि, 'यदि भाइयोंसहित कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर अपने घरपर जूआ खेलते होते और कौरव वहाँ जाकर हरा देते तो उनकी धर्मपूर्वक जीत कही जाती। परन्तु उन्होंने क्षत्रिय-धर्ममें लीन रहनेवाले युधिष्ठिरको बुलाकर छल और कपटसे हराया है। वे भीष्म, द्रोण और विदुरके बहुत अनुनय-विनय करनेपर भी पाण्डवोंको उनका पैतृक धन वापस नहीं कर रहे हैं। मैं तो रणभूमिमें तेज बाणोंसे पछाड़-कर उनको बलात् रास्तेपर लाकर श्रीमान् युधिष्ठिरके चरणोंमें नत कराऊँगा, अन्यथा मन्त्रियोंके सहित उनको यमलोककी यात्रा करनी पड़ेगी।'

सात्यकि भगवान् श्रीकृष्णके समान ही सर्वतोभावेन पाण्डवोंके थे, और उनकी वाणी वीरता और ओजसे पूर्ण होती थी। वे बड़े ही नीतिज्ञ थे। उपर्युक्त प्रसङ्गमें ही वे आगे कहते हैं—

नाधर्मो विद्यते कश्चिच्छत्रून् हत्वाऽऽततायिनः।
अधर्म्यमयशस्यं च शात्रवाणां प्रयाचनम्॥
(उद्योग० ४। २०)

'आततायी शत्रुको मारनेसे कुछ भी अधर्म नहीं होगा। शत्रुसे याचना करना अधर्म है और अपमानजनक है। तथा—

गर्दभे मार्दवं कुर्याद् गोषु तीक्ष्णं समाचरेत्।
मृदु दुर्योधने वाक्यं यो ब्रूयात् पापचेतसि॥
(उद्योग० ४। ५)

'पापात्मा दुर्योधनके प्रति जो मृदु वचन बोलता है, वह मानो गधेके प्रति कोमलतापूर्ण व्यवहार करता है और गायोंके प्रति कठोर।'—इससे स्पष्ट हो जाता है कि सात्यकि सच्चे अर्थमें वीर थे, उनकी वीरतापूर्ण वाणी उनके अनुरूप ही थी। वे बड़े ही चतुर तथा गूढ़ इङ्गितज्ञ थे। इसी कारण जान पड़ता है, भगवान् श्रीकृष्णने कौरवसभामें सन्धि-दूतके रूपमें जाते समय इनको अपने साथ ले लिया था। सात्यकिकी गणना महाभारतकालीन श्रेष्ठ वीरोंमें होती थी। वे असाधारण पुरुष थे। विदुरने धृतराष्ट्रको चेतावनी देते हुए कहा था—

येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः।
किं नु तैरजितं संख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः॥
(आदि० २०४। ८०)

'जिनके पक्षमें बलराम हैं, जिनके मन्त्री श्रीकृष्ण हैं, तथा वीरप्रवर सात्यकि जिनकी ओर हैं, उन पाण्डवोंके लिये युद्धमें क्या अजेय है?'—जान पड़ता है कि इस कारणसे भी भगवान् श्रीकृष्णके साथ सात्यकि गये थे। जब कौरव-सभामें कर्ण, शकुनि तथा दुर्योधनने श्रीकृष्णको पकड़नेकी मन्त्रणा की तो—

तेषां पापमभिप्रायं पापानां दुष्टचेतसाम्।
इङ्गितज्ञः कविः क्षिप्रमन्वबुद्ध्यत सात्यकिः॥
(उद्योग० १३०। ९)

उन पापियों, दुरात्माओंकी उस पापचेष्टाको इङ्गितज्ञ, कवि, सात्यकि शीघ्र ही ताड़ गये। और कृतवर्मासे बोले कि, 'शीघ्र ही सेनाको सभाद्वारके सामने व्यूहाकारमें सन्नद्ध करो, तबतक मैं श्रीकृष्णसे इनके अभिप्रायको व्यक्त करता हूँ।' व्यासजीने सात्यकिकी उस समयकी गतिविधिका अत्यन्त स्वाभाविक चित्र खींचा है। कहते हैं—

स प्रविश्य सभां वीरः सिंहो गिरिगुहामिव।
आचष्टे तमभिप्रायं केशवाय महात्मने॥
धृतराष्ट्रं ततश्चैव विदुरं चान्वभाषत॥१३॥
तेषामेतमभिप्रायमाचचक्षे स्मयन्निव।
धर्मादर्थाच्च कामाच्च कर्म साधुविगर्हितम्॥१४॥

मन्दाः कर्तुमिहेच्छन्ति न चावाप्यं कथंचन ।
पुरा विकुर्वते मूढाः पापात्मानः समागताः ॥१५॥
धर्षिता काममन्युभ्यां क्रोधलोभवशानुगाः ।
इमं हि पुण्डरीकाक्षं जिघृक्षन्त्यल्पचेतसः ॥
पटेनाग्निं प्रज्वलितं यथा बाला तथा जडाः ॥१६॥

'जैसे गिरि-गुफामें सिंह निधड़क प्रवेश करता है, उसी प्रकार निर्भयतापूर्वक सात्यकिने सभामें प्रवेश करके उनका अभिप्राय श्रीकृष्णको बतलाया, और मुसकराते हुए, धृतराष्ट्र तथा विदुरसे उनके आशयको प्रकट करते हुए कहा कि ये अल्प बुद्धिवाले लोग धर्म, अर्थ और कामकी दृष्टिसे सज्जनोंके लिये निन्दनीय कर्म करनेकी इच्छा कर रहे हैं, परंतु इसमें ये कदापि सफल न होंगे । काम, क्रोध, लोभ और मोहके वशमें होकर ये पापात्मा लोग पुण्डरीकाक्ष श्रीकृष्णको पकड़ना चाहते हैं । वस्त्रसे प्रज्वलित अग्निको पकड़नेकी इच्छा करनेवाले मूर्खके समान जड़ हैं, इनको समझ नहीं है ।' वीरश्रेष्ठ सात्यकिने दुर्योधन और उसके सारे मित्रोंकी कुमन्त्रणाका भण्डाफोड़ कर उन्हें समयसे पहले ही विफल कर दिया ।

महाभारतके युद्धमें वीरप्रवर सात्यकिके पाण्डवपक्षमें आ जानेपर पाण्डवोंकी सैन्य-शक्तिमें अपूर्व वृद्धि हो गयी । वीराग्रगण्य सात्यकि भय क्या वस्तु है—यह जानते ही नहीं थे । द्रोणपर्वके ११० वें अध्यायमें धर्मराज युधिष्ठिरने सात्यकिसे कहा है कि, 'हे तात ! द्वैतवनमें अर्जुनने मुझसे कहा था—'महान् स्कन्धवाले विशाल वक्षःस्थल, बड़ी-बड़ी भुजाएँ, महाबली, महावीर्यवान्, महारथी सात्यकि मेरे शिष्य और मेरे सखा हैं । मैं उनके लिये प्रिय हूँ, और वे मेरे प्रिय हैं । वे मेरे सहायक हैं, वे कौरवोंको मथ देंगे । हे राजेन्द्र ! मेरे हितार्थ यदि स्वयं केशव तैयार हों, बलरामजी, अनिरुद्ध, महारथी प्रद्युम्न वृष्णिसेनाके साथ गद, सारण और साम्ब सहायताके लिये सन्नद्ध हों तो भी मैं सत्यपराक्रम, नरव्याघ्र सात्यकिको सहायक बनाऊँगा; क्योंकि उनके समान मेरा कोई दूसरा नहीं है—

तथाप्यहं नरव्याघ्रं शैनेयं सत्यविक्रमम् ।
साहाय्ये विनियोक्ष्यामि नास्ति मेऽन्यो हि तत्समः॥
(द्रो० ११० । ६१)

—यह तो सात्यकिके विषयमें अर्जुनका अभिप्राय है । स्वयं धर्मराज इसी अध्यायमें अपने श्रीमुखसे कहते हैं—

सर्वेष्वपि च योधेषु चिन्तयञ्शिनिपुङ्गव ।
त्वत्तः सुहृत्तमं कञ्चिन्नाभिजानामि सात्यके ॥
यथा च केशवो नित्यं पाण्डवानां परायणम् ।
तथा त्वमपि वार्ष्णेय कृष्णतुल्यपराक्रमः ॥
त्वं हि सत्यव्रतः शूरो मित्राणामभयङ्करः ।
लोके विख्यायसे वीर कर्मभिः सत्यवागिति ॥
(द्रो० ११० । ४३, ४५, ४८)

'हे शिनिपुङ्गव सात्यकि ! खूब विचारनेपर भी सब योद्धाओंमें तुमसे अधिक सुहृद् मैं किसीको नहीं पाता । जैसे श्रीकृष्ण सदा पाण्डवोंके हितमें लगे रहते हैं, उसी प्रकार हे वृष्णिकुलश्रेष्ठ ! तुम भी पाण्डवोंके हितमें सदा लगे रहते हो । तुम सत्यव्रती, शूरवीर, मित्रोंके भयको दूर करनेवाले हो तथा हे वीर ! तुम अपने कर्मोंके द्वारा सत्यवक्ताके रूपमें संसारमें प्रसिद्ध हो ।'

पाण्डवपक्षमें सात्यकिका क्या स्थान है, अर्जुन तथा धर्मराजके उपर्युक्त वाक्योंसे इसका पता चल जाता है। वस्तुतः महाभारतमें सात्यकिका चरित्र बड़ा ही उज्ज्वल है। द्रोणपर्वके १४७ वें अध्यायमें युद्धमें सात्यकिके पराक्रमका वर्णन करते हुए अन्तमें सञ्जयने धृतराष्ट्रसे कहा है—

कृष्णयोः सदृशो वीर्ये सात्यकिः शत्रुतापनः ।
जितवान् सर्वसैन्यानि तावकानि हसन्निव ॥
कृष्णो वापि भवेल्लोके पार्थो वापि धनुर्धरः ।
शैनेयो वा नरव्याघ्र चतुर्थस्तु न विद्यते ॥
(१४७ । ७६।७७)

'हे राजन् ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके समान ही सात्यकि भी शत्रुओंके लिये सन्तापकारक है । उसने हँसते-हँसते आपकी सारी सेनाको परास्त कर दिया है । मेरे विचारसे संसारमें श्रीकृष्ण और अर्जुनके बाद तीसरा वीर पुरुष सात्यकि ही है । इनके कोटिका कोई चौथा धनुर्धर नहीं है ।'

सात्यकिकी युद्धकलाका निदर्शन महाभारतमें अनेकों स्थलोंपर प्राप्त होता है । वे भीमसेनके समान निर्भयतापूर्वक युद्ध करते हैं, कभी युद्धसे व्याकुल होकर पीठ नहीं दिखलाते और अपने बाणोंके आघातसे कौरवसेनाके बड़े-बड़े महारथियोंको निश्चेष्ट कर देते हैं । जयद्रथवधके अवसरपर जब वे कौरवसेनाको परास्त करते हुए, अर्जुनके समीप पहुँचते हैं, तब भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनसे प्रसन्न होकर सात्यकिकी प्रशंसा करते हुए द्रोणपर्वके १४१ वें अध्यायमें उनका अभिनन्दन करते हैं । वहाँ १५ से २६ वें श्लोकतक 'आयाति सात्यकि, अभ्येति सात्यकि' प्रत्येक श्लोकोंमें प्रयोग करके अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं । उस समय कौरव-सेनासे भयानक युद्ध करते-करते सात्यकि थकसे गये थे, उसी अवस्थामें भूरिश्रवाने अपनी सारी शक्तिसे आक्रमण कर दिया । पश्चात् भूरिश्रवाने हाथमें तलवार लेकर श्रान्त सात्यकिकी शिखा पकड़ ली । तब भगवान् वासुदेवने कहा—'अर्जुन ! देखो, सात्यकिको युद्धमें थका देखकर

भूरिश्रवा तलवारसे उसका सिर काटनेके लिये उद्यत है, बचाओ।' भगवान्‌के मुँहसे यह शब्द निकलते ही अर्जुनने एक बाणसे भूरिश्रवाका वह हाथ काट डाला और इस प्रकार अपने शिष्यकी रक्षा की। सात्यकिके ऊपर सारी महाभारतमें यही एक विपद् आयी थी। वह सर्वत्र वीरतापूर्वक लड़ते हुए अन्ततक जीवित रहे।

कुरुराज धृतराष्ट्र

धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे। उनको कर्तव्याकर्तव्यका ज्ञान था, परंतु वे कानके कच्चे थे। राज्यकार्यमें भीष्म, द्रोणाचार्य, विदुर और कृपाचार्यसे सलाह लेते थे तथा पाण्डवोंके सम्बन्धमें भी उसी प्रकार सलाह लेते थे। कभी-कभी वे पाण्डवोंके लिये भी अनुकूल हो जाते थे, परंतु जब वे दुर्योधनको कोई दुष्कृत्य करनेपर तुला हुआ देखते, तो उनका हृदय पुत्रमोहसे अन्धा हो जाता था और वे कर्तव्याकर्तव्यको भूल जाते थे। ऐसी हालतमें विदुर आदिके सलाहकी उपेक्षा करके दुर्योधनका ही समर्थन करते थे। ऊपर-ऊपरसे तो पाण्डवोंके सम्बन्धमें वे ठीक-ठीक बोलते थे, परंतु उनके हृदयसे सारे राज्यको आत्मसात् करनेकी वासना दूर नहीं होती थी। अतएव वे न्यायकी परवा न करके दुर्योधनके अनुकूल वर्तने लगते थे। कभी-कभी मोहके वश होकर दुर्योधनके दुष्कर्ममें भी सम्मति दे देते थे। और जब उसका कुफल उनको भोगना पड़ता तो वे अपने तटस्थ होनेका दिखावा करते थे। उदाहरणार्थ, जब पाण्डव लोग तेरह वर्षके वनवासमें द्वैतवनमें ठहरे हुए थे, उस समय उनको परेशान करनेके उद्देश्यसे कर्ण-शकुनि आदिकी सम्मतिसे दुर्योधन वहाँ जानेके लिये प्रस्तुत हुए। परंतु जब वह धृतराष्ट्रसे आज्ञा माँगनेके लिये गये तो उन्होंने वहाँ जानेकी अनुमति न दी और कहा, 'वहाँ पाण्डव ठहरे हुए हैं और वे छलपूर्वक हराये गये हैं तथा वनमें रहकर महान् कष्ट भोग रहे हैं। वे तपःशक्तिसम्पन्न हो रहे हैं। ऐसी अवस्थामें तुम लोग वहाँ जाकर अहंकार और दर्पके वशीभूत होकर कोई अपराध कर बैठोगे तो वे तुमको नष्ट किये बिना न छोड़ेंगे।' परंतु जब शकुनिने उनको उलटा-सीधा समझाया तो उनकी बुद्धि बदल गयी और वे राजी हो गये। यदि सर्वसंहारक महान् अनर्थका हेतु धृतराष्ट्रको मानें तो इसमें कोई गलती न होगी; क्योंकि भीष्म, विदुर आदिका उपदेश मानकर यदि पहलेसे ही वे दुर्योधनको काबूमें रखते, तो पाण्डवोंके साथ अन्याय न हो पाता और महायुद्धकी नौबत न आती। परंतु पुत्र-स्नेह तथा राजलोभके वशवर्ती होकर वे ऐसा नहीं कर सके। वे विवेक-शून्य हो जाते थे। बीच-बीचमें ऐसे प्रसङ्ग भी आते थे जब उनके हृदयमें पाण्डवोंके प्रति ममता उत्पन्न होती थी; परंतु वह ममत्व देरतक नहीं टिकता था।

गुण-अवगुणका विचार छोड़कर पुत्रके ऊपर अन्ध-वात्सल्यभाव रखनेवाले पिताकी जो गति होती है, वही गति धृतराष्ट्रकी हुई। उन्होंने अपने सामने ही सौ पुत्रोंकी अति भयंकर मृत्यु देखी। सौ पुत्रोंके पिता होकर भी मरते समय अपुत्र ही मरे।

दुर्योधन प्रत्यक्ष ही पाण्डवोंके प्रति ईर्ष्याका भाव रखते थे, परंतु धृतराष्ट्र परोक्षतः पाण्डवोंसे जलते रहते थे। पाण्डवोंके बढ़ते हुए बल और ऐश्वर्यको वे सह नहीं सकते थे। परंतु साथ ही पाण्डवोंसे वे डरते भी थे; क्योंकि पाण्डव बलशाली थे। पाण्डवोंकी कीर्ति बढ़ती देखकर दुर्योधनने अपने मामा शकुनिकी रायसे पाण्डवोंको जुआ खेलनेके लिये बुलाना चाहा और धृतराष्ट्रसे इसके लिये आज्ञा माँगी तो धृतराष्ट्रने बिना कुछ सोचे-समझे अपनी राय दे दी। उस समय विदुरने जुआ खेलनेके दोषोंको जब बतलाया तो धृतराष्ट्रने कहा, 'विदुर! यहाँ मैं, भीष्म तथा ये सब लोग हैं, और दैवने ही द्यूतका निर्माण किया है, इसलिये हम इसमें कुछ नहीं कर सकते। इस व्यवसायकी निन्दा करनेकी आवश्यकता नहीं है। इसलिये इसमें मैं दैवको ही बलवान् मानता हूँ, उसीके द्वारा यह सब कुछ हो रहा है।' धृतराष्ट्र अधिकतर दैवका ही अवलम्बन करते थे। उनकी मान्यता थी कि जो कुछ अनिष्ट होता है, वह दैवसे ही होता है। और इस मान्यताके कारण वे दुर्योधनको अनिष्ट कार्योंसे रोक नहीं सकते थे। द्यूतके समय जब युधिष्ठिरने द्रौपदीको दावपर रक्खा, तब सारी सभा स्तब्ध हो गयी। राजा लोग बड़े शोकमें पड़ गये। भीष्म, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य पसीने-पसीने हो गये। विदुर दोनों हाथोंसे सिर थामकर बैठ गये। परंतु धृतराष्ट्र बहुत प्रसन्न हुए और बार-बार पूछने लगे, 'कौन जीता, कौन जीता?' धृतराष्ट्रके लिये इससे बढ़कर निन्दनीय बात और क्या हो सकती थी?

धृतराष्ट्रमें अपार बल था। वृद्धावस्था होनेपर भी भीमसेनकी लोहेकी मूर्तिको कुचल डालनेकी शक्ति धृतराष्ट्रमें थी। संजय उनको जैसे-जैसे युद्धकी बात सुनाते थे, वैसे-वैसे युवक योद्धाके समान धृतराष्ट्रका वीररक्त उछलता था। वे पाण्डवोंका अनिष्ट सुनकर मन-ही-मन प्रसन्न होते थे तथा कौरव-पक्षका अनिष्ट सुनकर उद्विग्न हो जाते थे। धृतराष्ट्र यदि अन्धे न होते तो शायद महाभारतके युद्धमें वे पूरा-पूरा भाग लेते और भीष्मके समान धृतराष्ट्र भी पाण्डवोंके विरुद्ध पूर्णबलसे युद्ध करते। धृतराष्ट्र भीमसेनसे बहुत डरते थे। वे स्वयं संजयसे कहते हैं—

जागर्मि रात्रयः सर्वा दीर्घमुष्णञ्च निःश्वसन् ।
भीतो वृकोदरात् तात सिंहात् पशुरिवापरः ॥
(उद्योग० ५१ । ३)

'हे तात ! सिंहसे डरे हुए दूसरे पशुकी भाँति मैं भीमसेनसे भयभीत हो रातभर गरम-गरम लंबी साँसें लेता हुआ जागता रहता हूँ ।' इस भयका कारण निश्चय ही द्यूतसभामें भीमसेनकी वह प्रतिज्ञा थी, जिसमें उसने कहा था कि युद्धमें मैं धृतराष्ट्रके सब पुत्रोंको मार डालूँगा और दुःशासनका रक्त पान करूँगा और धृतराष्ट्रका वह भय सच निकला । भीमसेनने एक-एक करके उनके सभी पुत्रोंको मार डाला ।

परंतु यह सब कुछ होते हुए भी हम धृतराष्ट्रमें मानवताके उत्कृष्ट रूपका भी दर्शन करते हैं । जब दुर्योधन पाण्डवोंको वारणावत भेजनेके लिये धृतराष्ट्रसे कहते हैं और उनके अनिष्टके लिये मन्त्रणा करते हैं तो वे स्पष्ट कहते हैं—

दुर्योधन ममाप्येतद्धृदि सम्परिवर्तते ।
अभिप्रायस्य पापत्वान्नैवं तु विवृणोम्यहम् ॥
(आदि० १४१ । १६)

'दुर्योधन ! मेरे हृदयमें भी यही बात घूम रही है । परंतु हम लोगोंका यह अभिप्राय पापपूर्ण है, इसलिये मैं खुलकर नहीं कह सकता ।' अपने हृदयके गुण-दोषोंका निरीक्षण करके कर्तव्याकर्तव्यका निश्चय करना श्रेष्ठ पुरुषका लक्षण है । फिर उन्होंने युधिष्ठिरकी प्रशंसा करते हुए कहा, 'युधिष्ठिर अपने पिता पाण्डुके समान ही धर्मपरायण हैं, उत्तम गुणोंसे युक्त हैं, जगत्प्रसिद्ध हैं । फिर उनको बाप-दादोंके राज्यसे बलात् कैसे वञ्चित किया जा सकता है ?' इस प्रकार धृतराष्ट्रका प्रकृतितः पाण्डवोंके प्रति प्रेमभाव भी लक्षित होता है । द्रौपदीके साथ पाण्डवोंके विवाहका समाचार सुननेके बाद धृतराष्ट्रने 'अहोभाग्य ! अहोभाग्य !!' कहकर आनन्द प्रदर्शित किया और विदुरको भेजकर उनको हस्तिनापुर बुलवाया । पाण्डवोंके आनेपर उनकी आत्मीयता जाग्रत् हुई और उन्होंने कहा कि, 'युधिष्ठिर ! मेरे दुरात्मा पुत्र दम्भ और अहङ्कारसे भरे हैं, मेरा कहना नहीं मानते, सदा अपने स्वार्थसाधनकी बात सोचते रहते हैं । इन दुरात्माओंसे कहीं झगड़ा न हो जाय, इसलिये तुम आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थमें निवास करो ।' इस प्रकार महाराज धृतराष्ट्रने झगड़ेका अन्त कर दिया । उनका यह कार्य भगवान् श्रीवासुदेवको भी पसंद आ गया और वे बोल उठे—

युक्तमेतन्महाराज कौरवाणां यशस्करम् ।

'महाराज ! आपका यह विचार सर्वथा उत्तम तथा कौरवोंकी यशवृद्धि करनेवाला है ।'

जुआ खेलनेका प्रस्ताव करनेके पहले धृतराष्ट्रने दुर्योधनको बहुत समझाया और कहा, 'बेटा ! पाण्डवोंसे द्वेष मत करो, क्योंकि द्वेष करनेवाला मनुष्य मृत्युके समान कष्ट पाता है । युधिष्ठिर तुमसे द्वेष नहीं करते और जो उनके मित्र हैं, वे तुम्हारे भी मित्र हैं । दूसरेके धनकी स्पृहा करना अच्छे पुरुषोंका काम नहीं है ।

पाण्डोः पुत्रान् मा द्विषस्वेह राजं-
स्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम् ।
मित्रद्रोहे तात महानधर्मः
पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम् ॥
(सभा० ५४ । १०)

'तुम पाण्डवोंसे द्वेष न करो । वे तुम्हारे भाई हैं, भाइयोंका सारा धन तुम्हारा ही है । मित्रद्रोहसे बड़ा अधर्म होता है, तुम्हारे दादे-परदादे जो हैं, उनके भी वे ही हैं ।' इस प्रकार महाराजकी शान्तिप्रियताका पता लगता है । परंतु शकुनिने अपनी दुरभिसन्धिके द्वारा इनकी बुद्धिपर पर्दा डालकर जुएके प्रस्तावका समर्थन करा लिया जो कौरवोंके सर्वनाशका कारण बना ।

जुएमें जब पाण्डव सर्वस्व हार गये और द्रौपदीको दावपर रखना न्यायसङ्गत है या नहीं, इसपर बहस चल रही थी तो धृतराष्ट्रने दुर्योधनको फटकारते हुए कहा था 'रे मन्दबुद्धि दुर्योधन ! तू तो विनष्ट हो गया ! दुर्विनीत ! तू श्रेष्ठ कुरुवंशियोंकी सभामें अपने ही कुलकी स्त्री तथा विशेषतः पाण्डवोंकी धर्मपत्नी द्रौपदीको लाकर पापकी बातें कर रहा है ।' इस प्रकार बन्धु-बान्धवोंको विनाशसे बचाकर तत्त्वदर्शी महाराज धृतराष्ट्रने द्रौपदीको सान्त्वना देते हुए कहा—

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि ।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥
(सभा० ७१ । २७)

'बहू द्रौपदी ! तुम मेरी पुत्रवधुओंमें सर्वश्रेष्ठ और धर्मपरायणा सती हो । तुम्हारी जो इच्छा हो, मुझसे वर माँगो ।'—यह सुनकर द्रौपदीने युधिष्ठिरको दासभावसे मुक्त करनेका वर माँगा । पश्चात् नन्दिनी, धर्मचारिणी, कल्याणी आदि शब्दोंसे सम्बोधित करते हुए राजाने दो और वर माँगनेके लिये कहा, परंतु द्रौपदीने केवल एक वर माँगकर भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको अपने-अपने रथ और धनुष-बाणके साथ दास-भावसे मुक्त करा लिया । यहाँ महाराज धृतराष्ट्रके विवेक और दूरदर्शिताका सुन्दर उदाहरण प्राप्त होता है । वस्तुतः वे महाराज पाण्डुके बड़े भाई थे, इसलिये इस अवसरपर उन्होंने जो कुछ किया, उससे उनकी मर्यादाकी रक्षा हो गयी । परंतु होनी होकर रहती है, पुनः धृतराष्ट्रको उलटा-सीधा

समझाकर दुर्योधनने धर्मराजको जुआ खेलनेके लिये बुलानेको राजी कर लिया। धृतराष्ट्रकी बुद्धि मारी गयी, उनके आमन्त्रणपर धर्मराज जुआ खेलने आये, और वही जुआ सर्वनाशका कारण बना।

जब दूतके रूपमें भगवान् श्रीकृष्णके पधारनेकी बात विदुरके मुखसे महाराज धृतराष्ट्रने सुनी तो उनका गुणगान करने लगे—

चक्षुष्मतां वै स्पृहयामि संजय
द्रक्ष्यन्ति ये वासुदेवं समीपे।
विभ्राजमानं वपुषा परेण
प्रकाशयन्तं प्रदिशो दिशश्च॥
(उद्योग० ७१।१)

'संजय! मैं आँखवालोंके भाग्यका अभिलाषी हूँ, जो वासुदेव श्रीकृष्णको समीपमें देखते हैं, जो उत्तम श्रीसम्पन्न विग्रहसे दिशाओं, प्रदिशाओंको प्रकाशित करते हुए शोभायमान हैं।'

सहर्षशीर्षं पुरुषं पुराण-
मनादिमध्यान्तमनन्तकीर्तिम्।
शुक्रस्य धातारमजं च नित्यं
परं परेषां शरणं प्रपद्ये॥
(उद्योग० ७१।६)

'जिनके सहस्रों सिर हैं, जो पुराणपुरुष हैं, जिनका आदि, मध्य और अन्त नहीं है। जो अनन्त कीर्तिमान् हैं, जो सृष्टिके बीजको धारण करते हैं, जो अज हैं, नित्य हैं, परात्पर हैं उन भगवान् श्रीकृष्णकी मैं शरण जाता हूँ।'

महाराज धृतराष्ट्रने द्रोणपर्वके ग्यारहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णकी लीलाका संक्षेपमें वर्णन करके श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमाका गुणगान किया है। सारी लीलाओंका स्मरण करते हुए राजसभामें भगवान् वासुदेवके रूपका वर्णन करते हुए वे कहते हैं—

यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम संजय।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति॥
यच्च भक्त्या प्रसन्नोऽहमद्राक्षं कृष्णमीश्वरम्।
तन्मे सुविदितं सर्वं प्रत्यक्षमिव चागमम्॥
नान्तो विक्रमयुक्तस्य बुद्ध्या युक्तस्य वा पुनः।
कर्मणां शक्यते गन्तुं हृषीकेशस्य संजय॥
यस्य यन्ता हृषीकेशो योद्धा यस्य धनंजयः।
रथस्य तस्य कः संख्ये प्रत्यनीको भवेद् रथः॥
अर्जुनः केशवस्यात्मा कृष्णोऽप्यात्मा किरीटिनः।
अर्जुने विजयो नित्यं कृष्णे कीर्तिश्च शाश्वती॥
(द्रो० ११।२४—२६, ३६, ३८)

'हे संजय! भगवान् श्रीकृष्णने मेरी सभामें जो महान् आश्चर्य कर दिखाया था, वह दूसरा कौन कर सकता है? भक्तिसे प्रसन्न होकर मैंने भगवान् श्रीकृष्णके जिस स्वरूपको देखा था, वह आज भी प्रत्यक्षवत् स्मरण हो रहा है। संजय! कोई पराक्रमयुक्त या बुद्धियुक्त अथवा कर्मसे युक्त होकर हृषीकेश श्रीकृष्णका अन्त नहीं पा सकता। जिस रथके हाँकनेवाले श्रीकृष्ण हैं तथा योद्धा अर्जुन हैं, उस रथके सामने कोई शत्रु कैसे टिक सकता है? अर्जुन श्रीकृष्णकी आत्मा हैं और श्रीकृष्ण अर्जुनकी आत्मा हैं। अर्जुन नित्य विजयी हैं, और श्रीकृष्णमें शाश्वती कीर्ति है।' और मोहवश दुर्योधन श्रीकृष्णको नहीं पहचान रहा है और न अर्जुनको। ये दोनों पूर्वदेव महात्मा नर-नारायण हैं।

इस प्रकार भगवद्गुणोंके ज्ञाता धृतराष्ट्र पुत्रके मोहमें पड़कर दुर्योधनके अन्यायोंका निराकरण न करनेके कारण दोषके भागी बने। परंतु अंधे होते हुए भी उन्होंने भगवत्कृपासे राजसभामें भगवान्के दिव्यरूपका दर्शन किया था, जो सौभाग्य संसारमें विरले ही प्राप्त करते हैं! भगवान्ने स्वयं उनको इसके लिये दिव्यदृष्टि प्रदान की थी। महाभारतके अन्तमें कुछ दिन हस्तिनापुरमें रहनेके बाद अन्तमें वनमें जाकर भगवान्की आराधनामें उन्होंने अपना जीवन व्यतीत किया।

राजा दुर्योधन

पाण्डवोंके कट्टर शत्रु तथा कलिके अंशावतार दुर्योधन अंधे धृतराष्ट्रके ज्येष्ठ पुत्र थे। वे राज्यलोभी, अहङ्कारी, ईर्ष्यालु, अयोग्य, महत्त्वाकांक्षासे युक्त, दम्भी, गुरुजनकी आज्ञाकी अवहेलना करनेवाले, अपनी बड़ाई आप करनेवाले और अपनी इच्छाके विरुद्ध वर्तनेवाले, शुभचिन्तकोंको भी शत्रुकी दृष्टिसे देखनेवाले थे। उनमें सद्गुण भी थे। परंतु वे गुण भी दुर्गुणोंका साम्राज्य बढ़ जानेके कारण दूसरोंके लिये संहारकारक ही सिद्ध हुए। वे राजनीतिमें निपुण थे, धन तथा सम्मान प्रदान करके दूसरोंको अपना बना लेनेकी उनमें क्षमता थी और इसी कारणसे उन्होंने भीष्म, द्रोणाचार्य आदि, जो पाण्डवोंको समभावसे देखते थे, उनको भी युद्धमें अपने पक्षमें कर लिया था। केवल साधुपुरुष धर्मावतार विदुरजी उनके धनके लोभमें नहीं फँसे थे। इसी कारण दुर्योधन सदा अपना रहस्य खोल देनेवाले शत्रुके रूपमें ही उनको देखते थे। वे युद्धकालमें भी तटस्थ ही रह गये थे। दुर्योधनने अपने राज्यकालमें प्रजाको तथा माण्डलिक राजाओंको प्रसन्न रक्खा था; परंतु इसका मुख्य हेतु यह था कि, किसी प्रकार असंतुष्ट होकर कोई पाण्डवोंकी ओर न चला जाय। वे भीमसेनको अपना कट्टर शत्रु समझते थे, परंतु उनकी शक्तिके आगे उसकी एक न चलती थी।

दुर्योधनने धनुर्वेदादि शस्त्र-विद्याकी शिक्षा द्रोणाचार्यके पास ग्रहण की थी, इसलिये वे अन्यान्य शस्त्रास्त्रोंके द्वारा भी युद्ध करते थे। परंतु गदायुद्धमें तो वे अत्यन्त ही कुशल थे। वे और भीम दोनोंने ही बलरामजीसे गदायुद्धकी शिक्षा ली थी; परंतु भीमसेनके शारीरिक बलके आगे वे निर्बल बन जाते थे, इसी कारण वे कर्तव्याकर्तव्य भूलकर नृशंस कर्म करने लगते थे। वे दूसरोंका छिद्रान्वेषण करते थे, परंतु अपने छिद्रोंको नहीं देखते थे और जब कोई उनका दोष दिखलाता था, तब वे उसकी अवज्ञा कर बैठते थे। इसी कारण वे आजन्म वैराग्निको शान्त न कर सके। जीवनभर वे पाण्डवोंको अपने सम्राट्पदमें विघ्नरूप मानकर उन्हींका स्वप्न देखते थे और उनका कैसे निर्मूल किया जाय, इसीकी कोशिशमें लगे रहते थे। इस वैरभावकी दीक्षा लेकर उन्होंने इस वैराग्निमें भारतमाताके रत्नरूप पुत्रोंका होम कर दिया और अन्तमें स्वयं भी वीरके समान युद्ध करके सौ भाइयोंके साथ होमे गये और भारतभूमिको निस्तेज कर डाला। दूसरोंका अनिष्ट चाहनेवाले वे अपना या दूसरे किसीका भी इष्ट साधन नहीं कर सके, उलटे आनेवाले युगोंके लिये अपना अपयश छोड़ गये।

दैव श्रेष्ठ है या पुरुषार्थ ?—यह प्रश्न उपस्थित होनेपर दुर्योधनका दृष्टान्त लेना चाहिये। पुरुषार्थके ऊपर पूर्ण विश्वास रखनेवाले और दैवको लेशमात्र भी न माननेवाले दुर्योधनका दैवके द्वारा ही नाश हुआ। भीष्म, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य-जैसे बलवान् महारथी, जो पाण्डवोंके पक्षपाती थे, उनको युद्धमें अपने पक्षमें लेनेका सफल प्रयास दुर्योधनने किया था। उसकी राजनीतिके कारण वृद्ध और सारासारका विवेक रखनेवाले भीष्म-जैसे योद्धा दुर्योधनके अन्यायी पक्षमें अन्ततक रहे और युद्ध करते हुए मरे। जैसे-जैसे दुर्योधन हारते गये, वैसे-वैसे उनको यह लगने लगा कि, 'पुरुषार्थ बेकार है, दैव सर्वथा बलवान् है।'—दुर्योधनके जीवनकी आलोचना करनेपर यह तथ्य सबके सामने आता है।

महाभारत पढ़नेवालोंका पाण्डवोंमें पक्षपात होता है, यदि महाभारतकारने ऐसा जोर न डाला होता तो दुर्योधन कुशल और श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ थे, इसमें कुछ भी संशय नहीं है। पाण्डवोंको तो वे जन्मसे ही धिक्कारते थे। कर्ण और अर्जुन तथा दुर्योधन और भीम इन दोनोंके बीच बचपनसे ही ईर्ष्या, द्वेष और वैरभाव था। दुर्योधनका द्वेष इस सीमातक पहुँच गया था कि उन्होंने पाण्डवोंको सूईकी नोकके बराबर भी जमीन न देनेका सङ्कल्प कर लिया था।

भीष्म और द्रोणको उन्होंने अपने पक्षमें करके पाण्डवोंके विरुद्ध युद्धमें लगाया था तथापि दुर्योधनको इनके ऊपर विश्वास न था। उसने कई बार उनको खरी-खोटी सुनाते हुए कहा था कि, 'आपलोगोंका पोषण तो मैं करता हूँ, परंतु आपलोग पाण्डवोंका पक्षपात करके युद्ध करते हैं।' भीष्म और द्रोणाचार्यको दुर्योधनका यह स्वभाव अच्छा नहीं लगता था। दुर्योधन कभी-कभी कर्णकी प्रशंसा करते थे और यह भी कहते थे कि उसके द्वारा वे युद्ध जीतेंगे।

दुर्योधन सद्व्यवहारकी महिमा जाननेवाले तथा बड़े मृदुभाषी थे। उनके सद्व्यवहार तथा मृदुभाषितासे ही माद्रीके भाई शल्यने दुर्योधनके पक्षमें रहना और कर्णका सारथी बनना स्वीकार किया। अश्वत्थामा और कर्णके वाग्युद्धको इन्होंने अपनी मृदुवाणीसे बंद किया था। उनकी अमृतमयी वाणीसे भूलकर धृतराष्ट्र उनके कार्यमें स्वीकृति दे देते थे। यह दुर्योधनकी राजनीति थी। इसी मृदु भाषणके बलसे उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी सारी नारायणी सेनाको अपने पक्षमें ले लिया था तथा प्रकारान्तरसे श्रीकृष्णसे युद्धमें शस्त्र ग्रहण न करनेका वचन भी ले लिया था।

दुर्योधनके जीवनमें सबसे जघन्य कृत्य था भरी सभामें पाञ्चालकुमारी द्रौपदीका घोर अपमान। द्रौपदी उस कालमें नारीजगत्‌का सर्वश्रेष्ठ रत्न थी, उसका अपमान करके दुर्योधनने अपनी मृत्युका—अपने सर्वनाशका बीज बोया था।

दुर्योधन महान् तेजस्वी और शक्तिशाली राजा थे। धृतराष्ट्र, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि उनके शासनमें थे। महाभारतके महायुद्धमें उनकी सेना भी सर्वथा सुव्यवस्थित और सुदृढ़ तथा महान् थी। यदि पाण्डव-पक्षमें भगवान् श्रीवासुदेव न होते तो पाण्डवोंकी विजय संशयास्पद थी। दुर्योधनमें कार्यक्षमता भी अपूर्व थी। उनका गुप्तचर-विभाग सुव्यवस्थित था, जहाँ-कहीं कौरवोंके विपक्षकी अथवा पाण्डवोंके पक्षकी कोई घटना घटती, दुर्योधनको गुप्तचरोंके द्वारा तुरंत उसकी सूचना मिल जाती थी। और वे चौकन्ने होकर प्रतिविधानके लिये तैयार हो जाते थे। उसके गुप्तचर प्रत्येक राज्योंमें थे। उनका शासन-तन्त्र भी सुव्यवस्थित था। वे प्रजा-पालनमें राजधर्मका अनुसरण करते थे। गो-ब्राह्मणके रक्षक थे। महाविष्णु यज्ञ करके उन्होंने ब्राह्मणोंको दान-दक्षिणासे परितुष्ट कर दिया था। यदि पाण्डवोंके प्रति किये गये उनके दुर्व्यवहारोंको अलग करके देखें तो दुर्योधन एक महत्त्वाकांक्षी क्षात्रधर्मके अनुसार प्रजारञ्जन करनेवाले प्रभावशाली सम्राट् थे। उनके राजदरबारमें ब्राह्मणों और ऋषि-मुनियोंको यथोचित सत्कार प्राप्त होता था।

जब भगवान् वासुदेव दूतके रूपमें संधिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाने लगे और इसका समाचार दुर्योधनको दूतोंके द्वारा प्राप्त हुआ, तो उन्होंने भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णके आगमनके अवसरपर अपूर्व स्वागत-सत्कारका प्रबन्ध किया। वृकस्थलमें भगवान् अपने सैन्यके साथ मार्गमें रात्रि

समय विश्राम करनेवाले थे। अतएव वृकस्थलसे हस्तिनापुरतक स्थान-स्थानपर रम्य विश्रामस्थल, रत्नजटित सभास्थल, नाना प्रकारके विचित्र आसन, वसन, अन्न-पान, आहार-विहार तथा नाना प्रकारके बहुमूल्य रत्नोंकी योजना भगवान् श्रीवासुदेवकी प्रसन्नताके लिये की गयी थी। परंतु भगवान् संधि-दूतके रूपमें जा रहे थे, अतएव दुर्योधनके द्वारा आयोजित इन आयोजनोंका उपयोग उन्होंने नहीं किया।

राजा धृतराष्ट्रके सामने जब विदुरजीने श्रीकृष्णकी महिमा सुनाकर उनका सत्कारपूर्वक आतिथ्य करनेकी बात कही तो कूटनीतिज्ञ दुर्योधनने कहा कि 'श्रीकृष्णके विषयमें विदुरजीने जो कुछ कहा है उसे मैं ठीक मानता हूँ, परंतु जनार्दन पाण्डवोंके प्रति अति अनुरक्त हैं। हे राजन्! बुद्धिमान्को ऐसा कार्य नहीं करना चाहिये कि क्षत्रियका अनादर हो। मैं जानता हूँ कि विशाललोचन श्रीकृष्ण तीनों लोकोंमें पूज्यतम हैं। तथापि पाण्डव-परायण होनेके कारण श्रीकृष्णको नियन्त्रित करना ही ठीक है। यदि वासुदेव पकड़ लिये गये तो सब कार्य सिद्ध हो जायगा।' दुर्योधनकी इस बातको सुन मन्त्रियोंके सहित धृतराष्ट्र काँप उठे और बोले—'अरे बेटा! ऐसी बात न कहो, यह सनातन धर्म नहीं है। एक तो हृषीकेश दूतके रूपमें आये हैं, दूसरे हमारे सम्बन्धी और प्रियजन हैं, तीसरे कौरवोंके विषयमें उनकी पापबुद्धि नहीं है। फिर भला उनको क्यों बन्धनमें डाला जाय?'

दूतश्च हि हृषीकेशः सम्बन्धी च प्रियश्च नः।
अपापः कौरवेयेषु स कथं बन्धमर्हति॥

(उद्योग० ८८। १८)

धृतराष्ट्रकी बात सुनकर भीष्मजी बिगड़ गये और बोले—'धृतराष्ट्र! तुम्हारा पुत्र मूर्ख है। सुहृद्जन इसे भला सुझाते हैं, और यह बुरा ही सोचता है। यह दुष्ट भगवान् वासुदेवको पकड़नेपर क्षणमात्रमें अपने मन्त्रियोंके साथ नाशको प्राप्त हो जायगा। इस पापी, अधर्मी और मूर्खकी बात मैं नहीं सुनना चाहता'—इतना कहकर असंतुष्ट होकर भीष्मजी वहाँसे उठ गये।

परंतु दुर्योधन महा अहङ्कारी थे, उनको अपने बलका बड़ा अभिमान था। दूसरे, कर्ण उनको सहायक मिल गये थे; जो अपनेको सबसे बड़ा धनुर्धर समझते थे। इन दोनों वीरोंकी विचित्र जोड़ी थी, इसी कारण भगवान् वासुदेवने कर्णको पाण्डवोंके पक्षमें लानेकी चेष्टा की थी। उद्योगपर्वके ६३वें अध्यायमें दुर्योधनने भीष्मपितामहसे रुष्ट होकर यहाँतक कह दिया था कि 'मैं युद्ध आपके भरोसे, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, बाह्लीक तथा दूसरे राजाओंके भरोसे नहीं करने जा रहा हूँ। मैं कर्ण और भाई दुःशासनको साथ लेकर युद्धमें पाँचों पाण्डवोंको मार डालूँगा, और तब भूरि-भूरि विविध दक्षिणाओंसे युक्त महान् यज्ञोंका अनुष्ठान करके गौओं, अश्वों तथा नाना प्रकारके धनोंसे ब्राह्मणोंको परितृप्त करूँगा।'

दुर्योधन महान् सम्राट् थे, इसमें संदेह नहीं है। परंतु वे बड़े भारी अन्यायी थे, उन्होंने पाण्डवोंको बहुत सताया। पाण्डव लोग धर्मात्मा थे, बलमें भी अद्वितीय थे, परंतु धर्मभीरु थे। युधिष्ठिर तो धर्मराज ही कहलाते थे, और शेष चारों भाई उनके आज्ञानुवर्ती थे। अपनी माता कुन्ती और धर्मपत्नी द्रौपदीके साथ पाँचों पाण्डव भगवान् श्रीवासुदेवके परम प्रियजन थे। भगवान् आर्तोंके—असहायोंके सहायक होते हैं। दुर्योधनने विष देकर भीमसेनको मार डालनेकी चेष्टा की, वारणावतके लाक्षागृहमें कुन्तीसहित पाँचों पाण्डवोंको जला डालनेकी चेष्टा की, जुएमें शकुनिकी सहायतासे छल करके पाण्डवोंका सर्वस्व छीनकर पतिव्रता द्रौपदीको भरी सभामें अपमानित किया, पाण्डवोंको वनवास देकर वन-वन भटकनेके लिये विवश किया। उनके सारे कर्म आततायीपनसे भरे थे। ऐसी अवस्थामें भगवान्का पाण्डव-पक्षमें रहना स्वाभाविक था। इन अत्याचारोंके होते हुए भी दुर्योधन असुर नहीं थे, अपनेको क्षात्रधर्मका अनुवर्तन करनेवाला विशुद्ध क्षत्रिय समझते थे। और तदनुसार वर्तनेकी चेष्टा करते थे, इसी कारण भगवान् श्रीवासुदेव दूत बनकर गये कि वह अपनी भूल सुधार ले, पाण्डवोंके प्रति भाईके समान व्यवहार करनेके लिये राजी हो जाय। लेकिन दुर्योधनको अपने बलका बड़ा घमंड था। वे न माने। फलतः महाभारतका महायुद्ध हुआ, जिसमें उनके पक्षके सब राजा अपनी सारी सेनाओंके साथ मारे गये और अन्तमें दुर्योधन गदायुद्धमें भीमके द्वारा मारे गये। कौरवपक्षके केवल कृपाचार्य, अश्वत्थामा, कृतवर्मा और युयुत्सु बच रहे।

महावीर कर्ण

कुन्तीकी कुमारावस्थामें सूर्यदेवके द्वारा कर्णकी उत्पत्ति हुई। परंतु लोकापवादके भयसे कुन्तीने उन्हें काष्ठकी पेटीमें सुरक्षित रखकर गङ्गामें बहा दिया था। और अधिरथ नामके सूतकी स्त्री राधाने उन्हें पाल-पोसकर बड़ा बनाया था। इसी कारण उन्हें सूतपुत्र, राधेय आदि नामोंसे पुकारते थे। वे कौरव-पक्षमें अर्जुनके समान धनुर्धर थे। दुर्योधन अर्जुनके पराक्रमको देखकर बहुत घबराते थे, परंतु परीक्षाके समय जब कर्णने आकर अर्जुनके समान पराक्रम दिखला दिया तो तभीसे उन्होंने कर्णको अपना मित्र बना लिया तथा उनको अङ्गदेशका राजा बनाकर अपनेको निर्भय समझने लगे। कर्णकी सहायतापर पूर्णरूपेण निर्भर होनेके कारण ही दुर्योधनने पाण्डवोंके प्रति अपने वैरभावको अन्ततक शान्त न होने दिया। द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और भीष्मपितामहपर उनको पूरा भरोसा न था। वे इनको उभय-

पक्षीय मानते थे। परंतु कर्णको सर्वथा अपना ही समझते थे; यही नहीं, उनको यह निश्चय हो गया था कि यह अवश्य ही अर्जुनको मार गिरावेगा। कर्ण शूर थे तथा साथ ही कुछ भीरु भी थे। वे गन्धर्वयुद्धमें, गोहरणके युद्धमें तथा महायुद्धमें पराङ्मुख होकर भागते हुए देखे गये थे। 'राधेये शौरभीरुते'—कर्णमें शौर्य और भीरुता दोनों थी। शौर्य तो क्षत्रिययोनिमें जन्म लेनेके कारण था और भीरुताका कारण था सूतके घरमें उनका पालन-पोषण। परीक्षाके समय कर्णका पराक्रम देखकर युधिष्ठिरके मनमें यह दृढ़ छाप पड़ गयी थी कि कर्णके समान कोई दूसरा धनुर्धर नहीं है। और यह छाप जबतक कर्ण मरे नहीं, तबतक बनी रही। उनको युद्धमें कर्णसे बहुत डर था, इसी कारण उन्होंने कर्णको बिना मारे आये हुए अर्जुनको बहुत कड़ी बातें सुनायी थीं। कर्ण तपस्वी, दाता और उदार थे। वे नित्य प्रातःकाल गङ्गामें खड़े होकर तबतक जप करते रहते थे जबतक सूर्य ढल न जाय। उस समय उनके पास आकर जो कोई जो कुछ माँगता, उसे वे देते थे। कर्णने कवच और कुण्डल पहने ही जन्म लिया था। वे जबतक उसके साथ रहते तबतक उसकी मृत्यु होनेवाली न थी। अतएव अपने पुत्र अर्जुनको बचानेके लिये साक्षात् इन्द्रने ब्राह्मणका वेष धारण करके कर्णके पास आकर कवच-कुण्डलकी याचना की थी। कर्णने उन्हें पहचान लिया, परंतु अपने व्रतकी रक्षाके लिये उन्होंने कवच और कुण्डल उतारकर इन्द्रको दे दिये। इसपर प्रसन्न होकर इन्द्रने उनको एक अमोघ शक्ति दी, जो एक आदमीको मारनेमें पूर्ण समर्थ थी। कर्णने उस शक्तिके प्रयोगसे घटोत्कचको मारा था। कर्ण कृतज्ञ तथा हठीले थे। श्रीकृष्णने संधिदूतका कार्य करके लौटते समय कर्णको अपने रथमें बैठाकर उन्हें बतलाया कि वे सूतपुत्र नहीं, बल्कि कुन्तीपुत्र हैं। और यह भी कहा कि, 'तुम पाण्डव-पक्षमें आ जाओ तो राज्य तुम्हें ही मिलेगा। परंतु कर्णने स्पष्ट शब्दोंमें कहा कि, 'पाण्डव-पक्षमें आप हैं, इससे जय पाण्डवोंकी ही होगी; परंतु दुर्योधनने मुझको आजतक बहुत मान-सम्मानसे रक्खा है, तथा मेरे ही भरोसे युद्ध खड़ा किया है, ऐसी अवस्थामें यदि मैं उसे छोड़ता हूँ तो यह अन्याय माना जायगा। अतएव मैं ऐसा नहीं कर सकता।' फिर कुन्ती भी वहाँ गङ्गा-तटपर गयी जहाँ कर्ण जप करते थे। और उनके जन्मकी सत्य कथा सुनाकर उसे पाण्डवपक्षमें आनेके लिये कहा। कर्णने उसकी भी मार्मिक शब्द सुनाकर अपनी असमर्थता प्रकट की, परंतु उदारतासे यह भी कहा कि 'माँ! या तो अर्जुनसहित तेरे पाँच पुत्र रहेंगे या अर्जुनरहित तेरे पाँच पुत्र रहेंगे। मैं अर्जुनके सिवा तेरे दूसरे पुत्रोंको नहीं मारूँगा।' इस वचनका पालन कर्णने अन्ततक किया। दुर्योधनको न छोड़ना, उनके अडिग व्रत तथा कृतज्ञता[का] उज्ज्वल दृष्टान्त है। युद्धकी समाप्ति हो जानेपर जलाञ्जलि देते समय कुन्तीने कर्ण किसका पुत्र था, यह रहस्य खोल दिया था। और यह जानकर युधिष्ठिरने जीते-जी ही नहीं, बल्कि स्वर्गमें भी शोक करते हुए उनकी खोज की थी। युधिष्ठिरने जल प्रदान करते समय शोकपूर्वक कहा था कि, 'कर्ण बहुत कुवचन कहते थे, परंतु मेरी माताके समान उनके पैर देखकर मेरा क्रोध शान्त हो जाता था तथा मैं विचारमग्न हो जाता था।' कैसा अदृष्ट बन्धु-प्रेम था! कर्ण दाता, शूर, युद्धकुशल, एकनिष्ठ और उदार थे। इसके साथ-साथ वे अनदेखे, बढ़ावा देनेवाले आत्मप्रशंसक, धृष्ट तथा अभिमानी भी थे। इन्हीं दुर्गुणोंके कारण वे अर्जुनसे द्वेष करते थे, और इसीसे वे दुर्योधनके साथ दौड़ जाते थे तथा स्वयं अपकीर्तिके भागी बनते थे। उन्होंने जरासंधको हराया था तथा अकेले ही दिग्विजय किया था। उनका यह कार्य उसके अद्भुत शौर्य तथा शस्त्रास्त्रविद्याके नैपुण्यका सूचक है। महायुद्धमें उन्होंने दो दिन सेनापतिके पदपर रहकर उत्कृष्ट पराक्रम दिखलाया था। अन्तमें ब्राह्मणके शापसे उनका रथचक्र भूमिमें धँस गया और उसको उठानेके लिये वे नीचे उतरे, उसी समय श्रीकृष्णकी प्रेरणासे अर्जुनने उनका सिर काट डाला। वे गौरवर्ण, ऊँचे कदके, प्रचण्ड तेजस्वी तथा प्रभावशाली पुरुष थे। वे दाताके रूपमें अपने पीछे अमरकीर्ति छोड़ गये हैं। साथ ही दुर्योधनके पाप-सम्बन्धसे अपकीर्ति भी छोड़ गये हैं। उनके जीवनमें जो सबसे बड़ी कालिमा है, वह है राजसभामें द्रौपदीके प्रति उनकी अधम वाणी। वहाँ द्रौपदीको उन्होंने वेश्याकी उपमा देते हुए कहा है—

> अस्या सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः।
> एकाम्बरधरत्वं वाप्यथ वापि विवस्त्रता॥
>
> (सभा० ६८। ३६)

'इसको सभामें लाना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। यह एकवस्त्रा हो या नंगी हो तो भी यहाँ लायी जा सकती है।' यह निश्चयपूर्वक अधिरथके घरमें प्राप्त निम्नकोटिके संस्कारोंका ही परिणाम था। उच्चकुलमें उत्तम रजवीर्यसे उत्पन्न बुद्धिमान् पुरुष भी कुसङ्गसे कितना गिर जाता है— इसका यह प्रत्यक्ष उदाहरण है। कर्ण बड़े ही आत्माभिमानी थे। इसी कारण आत्मश्लाघामें वे इतने आगे बढ़ जाते थे कि भीष्म-द्रोण आदि गुरुजनोंके लिये भी असह्य हो जाते। गुरुजन तो पाण्डवोंको अजेय बतलाते थे और दुर्योधनको उनके साथ संधि करके चलनेकी सम्मति देते थे। निश्चय ही उनकी यह सम्मति निष्पक्ष होती थी। और कौरवोंके लिये कल्याणजनक थी। परंतु कर्णके लिये पाण्डवोंकी प्रशंसा असह्य थी। वे सदा उनका पराभव ही चाहते थे।

उनकी डींग हाँकनेकी आदत भी थी, और वह गुरुजनोंको प्रायः अप्रिय हो जाती थी। विराटकी गौओंके अपहरणके अवसरपर उनका डींग मारना सुनकर कृपाचार्यसे नहीं रहा गया। वे बोले—

सदैव तव राधेय युद्धे क्रूरतरा मतिः।
नार्थानां प्रकृतिं वेत्सि नानुबन्धमवेक्षसे॥

(विराट० ४९। १)

'कर्ण! युद्धके विषयमें तुम्हारा विचार सदा ही अति क्रूर होता है। न तो तुम कार्यकी प्रकृतिको समझते हो, न परिणामको देखते हो।' यहाँ कृपाचार्यने कर्णकी प्रकृतिकी यथावत् आलोचना की है; फिर आगे वे कहते हैं कि 'अर्जुनको जीतना आसान नहीं है। उसने अकेले ही उत्तरकुरु देशपर विजय प्राप्त की, अकेले खाण्डववनको दग्ध कर डाला, अकेले ही पाँच वर्षतक तप करते हुए ब्रह्मचर्यका पालन किया, अकेले ही सुभद्राका अपहरण करके स्वयं श्रीकृष्णको द्वन्द्व-युद्धके लिये ललकारा, अकेले ही किरातवेषधारी शङ्करसे युद्ध किया इत्यादि अनेकों वीरतापूर्ण कार्य किये। और कर्ण! तुमने अकेले क्या किया?

अश्वत्थामाने भी कहा—

न च तावज्जिता गावो न च सीमान्तरं गताः।
न हास्तिनपुरं प्राप्तास्त्वं च कर्ण विकत्थसे॥

(विराट० ५०। १)

'कर्ण! अभी तो हमने न गौओंको जीता, न मत्स्यदेशकी सीमाके बाहर गये और न हस्तिनापुर पहुँचे और तुम व्यर्थ डींग हाँकते हो।' सचमुच वीर पुरुषोंको अपेक्षाकृत अल्पशक्ति रखनेवालोंकी डींग असह्य हो जाती है। इसी कारण भीष्मने उनकी भर्त्सना की थी, और उससे रुष्ट होकर कर्णने प्रण किया था कि 'जबतक भीष्म सेनापति रहेंगे, मैं युद्ध नहीं करूँगा।'

परंतु जब शरशय्यापर भीष्मपितामह लेटे थे, उस समय कर्ण उनके पास गये और गद्गदस्वरसे बोले—'भीष्म! भीष्म! हे महाबाहो, हे महातेजस्विन्! मैं राधापुत्र कर्ण हूँ, जो सदा ही आपकी आँखोंका काँटा बना रहा।' यह सुनकर भीष्मने आँखें खोलीं और कर्णको एक हाथसे पकड़कर छातीसे लगा लिया, बोले—'कर्ण! तू मुझसे स्पर्धा करता रहा है! यदि तू आज मेरे पास नहीं आता तो निश्चय ही तेरा कल्याण नहीं होता। तू राधापुत्र नहीं, कुन्तीपुत्र है, सूर्यसे उत्पन्न हुआ है। और मैं सत्य कहता हूँ, बेटा! मेरे मनमें तेरे प्रति द्वेष नहीं है। तू जो अकारण ही पाण्डवोंकी निन्दा करता था, इसी कारण मैंने तुझको परुष वाक्य कहे थे। मैं जानता हूँ कि राजा दुर्योधनके द्वारा प्रेरित होकर ही तू ऐसा करता था।

'नीच-आश्रय और ईर्ष्याके कारण तेरी गुणवान् पाण्डवोंमें भी द्वेषबुद्धि देखकर मैंने कौरवसभामें तुझे खरी-खोटी सुनायी थी। मैं यह जानता हूँ कि संसारमें युद्धमें प्रकट हुआ तेरा पराक्रम शत्रुओंके लिये असह्य है। तू तेजस्वी है, शूरवीर है और दानियोंमें श्रेष्ठ है'। इस प्रकार कर्णकी प्रशंसा करते हुए भीष्मने कहा कि 'यदि तू मेरा प्रिय कार्य करना चाहता है तो पाण्डवोंसे मिल जा।' भीष्मके ऐसा कहनेपर भी कर्णने वही उत्तर दिया, जो वे वासुदेव श्रीकृष्णको दे चुके थे—

भुक्त्वा दुर्योधनैश्वर्यं न मिथ्याकर्तुमुत्सहे॥
वसुदेवसुतो यद्वत् पाण्डवाय दृढव्रतः।
वसु चैव शरीरं च पुत्रदारं तथा यशः॥
सर्वं दुर्योधनस्यार्थे त्यक्तं मे भूरिदक्षिणः।

'पितामह! दुर्योधनके दिये ऐश्वर्यका भोग करके मैं मिथ्या आचरण करनेका साहस नहीं कर सकता। जिस प्रकार पाण्डवोंके लिये वासुदेव दृढ़व्रती हैं, उसी प्रकार मैंने अपना तन-धन, स्त्री-पुत्र, यश—सब कुछ दुर्योधनके लिये त्याग दिया है।' अन्तमें चलते समय कर्णने क्षमा-प्रार्थना करते हुए भीष्मसे कहा—

दुरुक्तं विपरीतं वा रभसात् चापलात् तथा।
यन्मयेह कृतं किंचित् तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि॥

'मैंने चपलतावश या उतावलीमें जो कुछ दुर्वचन या विपरीत वचन कहा हो, उसे आप क्षमा करेंगे।'

इस प्रकरणमें कर्णके चरित्रका बड़ा सुन्दर चित्रण प्राप्त होता है। वस्तुतः कर्ण स्वयं देवपुत्र होनेके कारण दिव्य गुणोंसे युक्त थे, परंतु कुसङ्गमें रहनेके कारण उसके दोष उनमें आ जाते थे।

पतिभक्ता गान्धारी

संसारकी पतिव्रता देवियोंमें गान्धारीका स्थान बहुत ऊँचा है। ये गन्धारराज सुबलकी पुत्री और शकुनिकी बहिन थीं। इन्होंने कुमारी-अवस्थामें ही भगवान् शङ्करकी बड़ी आराधना की और उनसे सौ पुत्रोंका वरदान प्राप्त किया। जब इन्हें मालूम हुआ कि इनका विवाह नेत्रहीन धृतराष्ट्रसे होनेवाला है, उसी समयसे इन्होंने अपनी दोनों आँखोंपर पट्टी बाँध ली। इन्होंने सोचा कि जब मेरे पति ही नेत्रसुखसे वञ्चित हैं, तब मुझे संसारको देखनेका क्या अधिकार है। उस समयसे जबतक ये जीवित रहीं, अपने उस दृढ़ निश्चयपर अटल रहीं। पतिके लिये इन्द्रियसुखके त्यागका ऐसा अनूठा उदाहरण संसारके इतिहासमें कहीं नहीं मिलता। इनका यह तप और त्याग अनुपम था, संसारके लिये एक अनोखी वस्तु थी।

ये सदा अपने पतिके अनुकूल रहीं। इन्होंने ससुरालमें आते ही अपने चरित्र और सद्गुणोंसे पति एवं उनके सारे परिवारको मुग्ध कर लिया। धन्य पतिप्रेम !

देवी गान्धारी जैसी पतिव्रता थीं, वैसी ही निर्भीक और न्यायप्रिय भी थीं। ये सदा सत्य, नीति और धर्मका ही पक्ष लेती थीं, अन्यायका कभी समर्थन नहीं करती थीं। इनके पुत्रोंने देवी द्रौपदीके साथ भरी सभामें जो अत्याचार किया था, उसका इनके मनमें बड़ा दुःख था। वे इस बातसे अपने पुत्रोंपर प्रसन्न नहीं हुईं। जब इनके पति राजा धृतराष्ट्रने अपने पुत्रकी बातोंमें आकर दुबारा पाण्डवोंको द्यूतके लिये बुला भेजा, उस समय वे बड़ी दुखी हुईं। इन्होंने जुएका विरोध करते हुए अपने पतिदेवसे कहा—'स्वामी ! दुर्योधन जन्मते ही गीदड़के समान रोने-चिल्लाने लगा था, इसलिये उसी समय परम ज्ञानी विदुरने कहा था कि इस पुत्रका परित्याग कर दो। मुझे तो वह बात याद करके यही जान पड़ता है कि यह कुरुवंशका नाश करके छोड़ेगा। आर्यपुत्र ! आप अपने दोषसे सबको विपत्तिमें न डालिये। इन ढीठ मूर्खोंकी हाँ-में-हाँ न मिलाइये। इस वंशके नाशका कारण मत बनिये। बँधे हुए पुलको मत तोड़िये। बुझी हुई आग फिर धधक उठेगी। पाण्डव शान्त हैं और वैर-विरोधसे विमुख हैं। उनको अब क्रोधित करना ठीक नहीं। यद्यपि यह बात आप जानते हैं, फिर भी मैं आपको याद दिलाती हूँ। दुर्बुद्धि पुरुषके चित्तपर शास्त्रके उपदेशका प्रभाव नहीं पड़ता। परंतु आप वृद्ध होकर बालकोंकी-सी बात करें—यह अनुचित है। इस समय आप अपने पुत्रतुल्य पाण्डवोंको अपनाये रक्खें। कहीं वे दुखी होकर आपसे विलग न हो जायँ। कुलकलङ्क दुर्योधनको त्यागना ही श्रेयस्कर है। मैंने मोहवश उस समय विदुरजीकी बात नहीं मानी, उसीका यह फल है। शान्ति, धर्म और मन्त्रियोंकी सम्मतिसे अपनी विचारशक्तिको सुरक्षित रखिये। प्रमाद मत कीजिये। बिना विचारे काम करना आपके लिये बड़ा दुःखदायी सिद्ध होगा, राजलक्ष्मी क्रूरके हाथमें पड़कर उसीका सत्यानाश कर देती है।' गान्धारीके इन वाक्योंसे धर्म, नीति और निष्पक्षता टपकी पड़ती है। ये दुर्योधनकी भी उसकी अनुचित कार्रवाइयोंपर बराबर टोकती रहती थीं, उसकी उद्दण्डताके लिये उसे फटकारती थीं और उसकी अनीतिके भावी दुष्परिणामका भयंकर चित्र उसके सामने खींचा करती थीं। पर दुर्योधनके सिरपर काल नाच रहा था, वह उसे इन सबकी हितभरी बातोंपर ध्यान नहीं देने देता था।

पाण्डवोंकी ओरसे संधिका प्रस्ताव लेकर जब स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हस्तिनापुर गये और वे भी दुर्योधनको समझाकर हार गये, तब धृतराष्ट्रने देवी गान्धारीको बुलाकर उनसे कहा कि 'अब तुम्हीं अपने पुत्रको समझाओ, वह हमलोगोंमेंसे तो किसीकी भी बात नहीं सुनता।' पतिकी यह बात सुनकर गान्धारीने कहा—'राजन् ! आप पुत्रके मोहमें फँसे हुए हैं, इसलिये इस विषयमें सबसे अधिक दोषी तो आप ही हैं। आप यह जानकर भी कि दुर्योधन बड़ा पापी है, उसीकी बुद्धिके पीछे चलते रहे हैं। दुर्योधनको तो काम, क्रोध और लोभने अपने चंगुलमें फँसा रक्खा है। अब आप बलात्कारसे भी उसे इस मार्गसे नहीं हटा सकेंगे। आपने इस मूर्ख, दुरात्मा, कुसङ्गी और लोभी पुत्रको बिना कुछ सोचे-समझे राज्यकी बागडोर सौंप दी; उसीका आप यह फल भोग रहे हैं। आप अपने घरमें जो फूट पड़ रही है, उसकी उपेक्षा किये चले जा रहे हैं। ऐसा करके तो आप पाण्डवोंकी दृष्टिमें अपने-आपको हास्यास्पद बना रहे हैं। देखिये, यदि साम या भेदसे ही विपत्ति टाली जा सकती हो तो कोई भी बुद्धिमान् स्वजनोंके प्रति दण्डका प्रयोग क्यों करेगा।' गान्धारीकी यह युक्ति कैसी निर्भीक, निष्पक्ष, हितभरी, नीतिपूर्ण और सच्ची थी !

इसके बाद गान्धारीने अपने पुत्रको भी बुलाकर उसे समझाना शुरू किया। वे बोलीं—'बेटा ! मेरी बात सुनो। तुमसे तुम्हारे पिता, भीष्मजी, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य और विदुरजीने जो बात कही है, उसे स्वीकार कर लो। यदि तुम पाण्डवोंसे संधि कर लोगे तो सच मानो, इससे पितामह भीष्मजीकी, तुम्हारे पिताजीकी, मेरी ओर द्रोणाचार्य आदि हितैषियोंकी तुम्हारे द्वारा बड़ी सेवा होगी। बेटा ! राज्यको पाना, बचाना और भोगना अपने हाथकी बात नहीं है। जो पुरुष जितेन्द्रिय होता है, वही राज्यकी रक्षा कर सकता है। काम और क्रोध तो मनुष्यको अर्थसे च्युत कर देते हैं। इन दोनों शत्रुओंको जीतकर तो राजा सारी पृथ्वीको जीत सकता है। देखो—जिस प्रकार उद्दण्ड घोड़े मार्गमें ही मूर्ख सारथिको मार डालते हैं, उसी प्रकार यदि इन्द्रियोंको काबूमें न रक्खा जाय तो वे मनुष्यका नाश करनेके लिये पर्याप्त हैं। इस प्रकार इन्द्रियाँ जिसके वशमें हैं और जो सब काम सोच-समझकर करता है, उसके पास चिरकालतक लक्ष्मी बनी रहती है। तात ! तुम्हारे दादा भीष्मजीने और गुरु द्रोणाचार्यजीने जो बात कही है, वह बिल्कुल ठीक है। वास्तवमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको कोई नहीं जीत सकता। इसलिये तुम श्रीकृष्णकी शरण लो। यदि ये प्रसन्न रहेंगे तो दोनों ही पक्षोंका हित होगा। वत्स ! युद्ध करनेमें कल्याण नहीं है। उसमें धर्म और अर्थ भी नहीं है तो सुख कहाँसे होगा। यदि तुम अपने मन्त्रियोंके सहित राज्य भोगना चाहते हो तो पाण्डवोंका जो न्यायोचित भाग है, वह उन्हें दे दो। पाण्डवोंको जो तेरह वर्षतक घरसे बाहर रक्खा गया, यह भी बड़ा अपराध हुआ है। अब संधि करके इसका मार्जन कर दो। तात ! संसारमें लोभ करनेसे किसीको सम्पत्ति नहीं मिलती।

अतः तुम लोभ छोड़ दो और पाण्डवोंसे संधि कर लो।' कैसा हितपूर्ण और मार्मिक उपदेश था। इससे पता चलता है कि गान्धारी विदुषी थीं तथा वे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी महिमा भी जानती थीं।

फिर भी दुष्ट दुर्योधनपर गान्धारीके इस उत्तम उपदेशका कोई असर नहीं हुआ। उसने अपनी जिद नहीं छोड़ी। परिणाम यह हुआ कि दोनों ओरसे युद्धकी तैयारियाँ होने लगीं और अठारह दिनोंतक कुरुक्षेत्रके मैदानमें भीषण मार-काट हुई। युद्धके दिनोंमें दुर्योधन प्रतिदिन इनसे प्रार्थना करता कि 'माँ! मैं शत्रुओंके साथ लोहा लेने जा रहा हूँ; आप मुझे आशीर्वाद दीजिये, जिससे युद्धमें मेरा कल्याण हो।' गान्धारीमें पातिव्रत्यका बड़ा तेज था। वे यदि पुत्रको विजयका आशीर्वाद दे देतीं तो वह अन्यथा न होता। परंतु वे देतीं कैसे? वे जानती थीं कि दुर्योधन अत्याचारी है। अत्याचारीके हाथोंमें कभी राज्यलक्ष्मी टिक नहीं सकती, इसीलिये वे हर बार यही उत्तर देतीं—'बेटा! जहाँ धर्म है, वहीं विजय है। विजय चाहते हो तो धर्मका आश्रय लो, अधर्मका परित्याग करो।' उन्होंने दुर्योधनका कभी पक्ष नहीं लिया। परंतु जब उन्होंने सुना कि मेरे सौ-के-सौ पुत्र मारे गये तो शोकके वेगसे उनका क्रोध उभड़ पड़ा और वे पाण्डवोंको शाप देनेका विचार करने लगीं। भगवान् वेदव्यास तो मनकी बात जान लेते थे। उन्हें जब इस बातका पता लगा तो उन्होंने गान्धारीके पास आकर उन्हें सान्त्वना दी और उनको असत्-सङ्कल्पसे रोका। उस समय पाण्डव भी वहाँ मौजूद थे।

गान्धारीने व्यासजीसे कहा—'भगवन्! पाण्डवोंके प्रति मेरे मनमें द्वेषभाव नहीं है। मैं इनका नाश नहीं चाहती हूँ। पुत्रशोकके कारण बलात् मेरा मन विह्वल हो रहा है। पाण्डवोंकी रक्षा कुन्तीके समान ही मुझे करनी चाहिये। आप जैसे उनकी रक्षा करना चाहते हैं, धृतराष्ट्रके द्वारा भी वे उसी प्रकार रक्षणीय हैं। मैं जानती हूँ कि कुरुवंशका नाश दुर्योधन, शकुनि, कर्ण और दुःशासनके द्वारा हुआ है; युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल-सहदेवका इसमें अपराध नहीं है। युद्धमें लड़ते हुए कौरव मारे गये, इसमें कोई दुःखकी बात नहीं है; परंतु महात्मा वासुदेवके सामने गदायुद्धमें बुलाकर युद्ध करते हुए नाभिसे नीचे प्रहार करके भीमने जो दुष्कर्म किया, इसे याद करके मेरा क्रोध बढ़ रहा है।'

गान्धारीकी यह बात सुनकर भीमसेन डरते हुए विनयपूर्वक बोले—'माता! भयसे मैंने आत्मरक्षाके लिये जो अधर्म या धर्म किया, उसे आप कृपया क्षमा करें। वह तुम्हारा महाबली पुत्र धर्मसे किसीके द्वारा परास्त नहीं हो सकता था, इसी कारण मैंने वह विषम कृत्य किया। उसने पहले युधिष्ठिरको अधर्मसे ही जीतकर हमको विपत्तिमें डाला था। यह सोचकर ही वह विषम कृत्य मैंने किया। यह वीर्यवान् दुर्योधन अकेला बच गया है, कहीं गदायुद्धमें मुझे मारकर राज्य न ले ले, यह सोचकर ही मैंने वैसा किया। एकवस्त्रा, रजस्वला राजपुत्री पाञ्चालीके साथ उसने जो दुर्व्यवहार किया, वह आपको ज्ञात ही है। उसने जो द्रौपदीके सामने बायीं जङ्घा प्रदर्शित की थी, वह हमारे लिये असह्य था। तुम्हारे पुत्रने उसी समय वध करने योग्य काम किया था, किंतु धर्मराजकी आज्ञा न होनेके कारण वह बच गया था। हे महारानी! आपके पुत्रने ही महान् वैर करके संकट उपस्थित किया था, उसीके कारण हमको वनमें बड़ा कष्ट भोगना पड़ा, इसीलिये मैंने वैसा कर्म किया।'

भीमसेनके इस उत्तरको सुनकर गान्धारीने कहा—'हे वृकोदर! तुम्हारी सारी बातें मैं मानती हूँ, परंतु तुमने जो दुःशासनका रक्तपान किया, वह बड़ा ही निन्दनीय, भयङ्कर और अनार्योंके कर्म-जैसा है। यह क्रूर कर्म जो तुमने किया, वह ठीक नहीं था।' यह सुनकर भीमसेनने कहा—'माता! दूसरेका खून नहीं पीना चाहिये, अपना खून पीनेकी तो बात ही क्या? जैसा अपना खून है, वैसा ही भाईका! माँ! सोच न करो, सूर्यनारायण साक्षी हैं कि खून मेरे ओठोंके भीतर नहीं गया, केवल दोनों हाथ खूनसे लथपथ थे। हे महारानी, द्रौपदीके केश पकड़कर खींचे जाते समय क्रोधवश होकर जो प्रतिज्ञा मैंने की थी, उसे पूरा नहीं करता तो धर्म-च्युत होनेके कारण अनन्तकालतक निन्दाका पात्र बनता। आपने पहले अपने पुत्रोंको नहीं सँभाला, अब मुझ अपकार न करनेवालेपर आप क्यों शङ्का करती हैं?'

गान्धारीने कहा—'तात! मेरे सौ पुत्रोंमें अल्प अपराधी किसी एक पुत्रको भी तुमने नहीं छोड़ा, जो हमारे बुढ़ापेकी लकड़ी बनता।

'यदि तुम धर्मका आचरण करते तो मेरे पुत्रोंका वध करनेपर भी मुझे तुमको देखकर दुःख नहीं होता।'

भीम और गान्धारीके इस वार्तालापसे स्पष्ट हो जाता है कि गान्धारीका हृदय कितना विशाल था, तथा उसमें कितनी धर्मप्रियता थी। परंतु माताका हृदय था, पुत्रोंको कुमार्गी देखकर भी माता पुत्रहीना नहीं रहना चाहती। इसी कारण उसके मनमें बड़ा क्षोभ था। यदि उसका कोई एक भी पुत्र जीता बचा होता तो धर्माचारिणी गान्धारी अपने दुर्योधन आदि कुपुत्रोंके मरनेपर दुखी न होती। अपने सौ पुत्रोंको मारनेवाले भीमसे इस प्रकार नीति और प्रीतियुक्त धर्मकी चर्चा गान्धारी-जैसी सतीके सिवा दूसरी स्त्री नहीं कर सकती।

माता गान्धारीके मनमें क्षोभ देखकर युधिष्ठिर उनके पास गये और अपनेको धिक्कारते हुए ज्यों ही उनके चरणों-पर गिरने लगे कि गान्धारीकी क्रोधभरी दृष्टि पट्टीमेंसे होकर महाराज युधिष्ठिरके नखोंपर पड़ी । इससे उनके सुन्दर लाल-लाल नख उसी समय काले पड़ गये। यह देखकर उनके भाई भी मारे भयके इधर-उधर छिपने लगे । उन्हें इस प्रकार कसमसाते देखकर गान्धारीका क्रोध शान्त हो गया और उन्होंने माताके समान पाण्डवोंको धीरज दिया । उपर्युक्त घटनासे गान्धारीके अनुपम पातिव्रत्य-तेजका पता लगता है । अन्तमें गान्धारीने अपना क्रोध श्रीकृष्णपर निकाला । अथवा यों कहना चाहिये कि अन्तर्यामी श्रीकृष्णने ही उनकी मति पलटकर पाण्डवोंको उनके कोपसे बचा लिया और उनका अभिशाप अपने ऊपर ले लिया । देवी गान्धारीने कुरुक्षेत्रमें जाकर जब वहाँका हृदयविद्रावक दृश्य देखा तो वे अपने शोकको सँभाल न सकीं । वे क्रोधमें भरकर श्रीकृष्णसे बोलीं—'कृष्ण ! पाण्डव और कौरव अपनी फूटके कारण ही नष्ट हुए हैं; किंतु तुमने समर्थ होते हुए भी अपने सम्बन्धियोंकी उपेक्षा क्यों कर दी ? तुम्हारे पास अनेकों सेवक थे और बड़ी भारी सेना भी थी। तुम दोनोंको दबा सकते थे और अपने वाक्कौशलसे उन्हें समझा भी सकते थे । परंतु तुमने जान-बूझकर कौरवोंके संहारकी उपेक्षा कर दी। इसलिये अब तुम उसका फल भोगो । मैंने पतिकी सेवा करके जो तप संचय किया है, उसीके बलपर मैं तुम्हें शाप देती हूँ कि जिस प्रकार परस्पर युद्ध करते हुए कौरव और पाण्डवोंकी तुमने उपेक्षा कर दी, उसी प्रकार तुम अपने बन्धु-बान्धवोंका भी वध करोगे और स्वयं भी अनाथकी तरह मारे जाओगे । आज जैसे ये भरतवंशकी स्त्रियाँ आर्त्तनाद कर रही हैं, उसी प्रकार तुम्हारे कुटुम्बकी स्त्रियाँ भी अपने बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेपर सिर पकड़कर रोयेंगी ।'

गान्धारीके ये कठोर वचन सुनकर महामना श्रीकृष्ण मुसकराये और बोले—'मैं तो जानता था कि यह बात इसी तरह होनेवाली है । शाप देकर तुमने होनीको ही बतलाया है । इसमें संदेह नहीं वृष्णिवंशका नाश दैवी कोपसे ही होगा । इसका नाश भी मेरे सिवा और कोई नहीं कर सकता । मनुष्य क्या, देवता या असुर भी इनका संहार नहीं कर सकते । इसलिये ये यदुवंशी आपसके कलहसे ही नष्ट होंगे ।'

देवी गान्धारीके सौ पुत्र मारे गये, एक भी उनमेंसे जीता न बचा, इसके शोकसे वह दुखी थी ही; परंतु जब उसने द्रौपदीको पृथ्वीपर शोकसे परिप्लुत होकर रोते देखा तो उसको अपना दुःख भूल गया, वह द्रौपदीको सान्त्वना देने लगी—'हे पुत्रि ! इस प्रकार शोकार्त न हो । देखो, मैं भी तुम्हारी ही भाँति दुःखिता हूँ । मैं समझती हूँ कि यह जो जनसंहार हुआ है, दैवकी प्रेरणासे हुआ है। यह अवश्य-म्भावी था, विदुरने इसके लिये पहले ही भविष्यद्वाणी की थी । हे कृष्णे ! युद्धमें मरनेवालोंके लिये शोक नहीं करना चाहिये; क्योंकि वे स्वर्ग चले गये हैं, इसलिये अशोच्य हैं ।

यथैवाहं तथैव त्वं को नावाश्वासयिष्यति ।
ममैव ह्यपराधेन कुलमग्र्यं विनाशितम् ॥
(स्त्रीपर्व १५ । ४४)

'जो मेरी हालत है वही तेरी है । हमको कौन आश्वासन देगा । कृष्णे ! मेरे ही अपराधसे इस श्रेष्ठ कुलका विनाश हुआ है ।'—यह आश्वासन देवी गान्धारीके हृदयकी विशालताको व्यक्त करता है ।

युधिष्ठिरके राज्याभिषेकके बाद देवी गान्धारी कुछ समय-तक उन्हींके पास रहकर अन्तमें अपने पतिके साथ वनमें चली गयीं और वहाँ तपस्वियोंका-सा जीवन बिताकर तपस्वियों-की भाँति ही उन्होंने अपने पतिके साथ दावाग्निसे अपने शरीरको जला डाला और पतिके साथ ही कुबेरके लोकमें चली गयीं । इस प्रकार पतिपरायणा गान्धारीने इस लोकमें पतिकी सेवा करके परलोकमें भी पतिका सान्निध्य एवं सेवा प्राप्त की—जो प्रत्येक पतिव्रताका अभीष्ट लक्ष्य होता है । प्रत्येक पतिव्रता नारीको गान्धारीके चरित्रका मननकर उससे शिक्षा लेनी चाहिये ।

माँ कुन्तीदेवी

कुन्तीदेवी एक आदर्श महिला थीं । ये महात्मा पाण्डवोंकी माता एवं भगवान् श्रीकृष्णकी बूआ थीं । ये वसुदेवजीकी सगी बहिन थीं तथा राजा कुन्तिभोजको गोद दी गयी थीं । जन्मसे इन्हें लोग पृथाके नामसे पुकारते थे, परंतु राजा कुन्तिभोजके यहाँ इनका लालन-पालन होनेसे ये कुन्तीके नामसे विख्यात हुईं । ये बालकपनसे ही बड़ी सुशीला, सदाचारिणी, संयमशीला एवं भक्तिमती थीं । राजा कुन्तिभोजके यहाँ एक बार एक बड़े तेजस्वी ब्राह्मण अतिथि-रूपमें आये । इनकी सेवाका कार्य बालिका कुन्तीको सौंपा गया । इसकी ब्राह्मणोंमें बड़ी भक्ति थी और अतिथि-सेवामें बड़ी रुचि थी । राजपुत्री पृथा आलस्य और अभिमानको त्यागकर ब्राह्मणदेवताकी सेवामें तन-मनसे संलग्न हो गयी । उसने शुद्ध मनसे सेवा करके ब्राह्मण देवताको पूर्णतया प्रसन्न कर लिया । ब्राह्मण देवताका व्यवहार बड़ा अटपटा था । कभी वे अनियत समयपर आते, कभी आते ही नहीं और कभी ऐसी चीज खानेको माँगते, जिसका मिलना अत्यन्त कठिन होता । किंतु पृथा उनके सारे काम इस प्रकार कर देती मानो उसने उनके लिये पहलेसे ही तैयारी
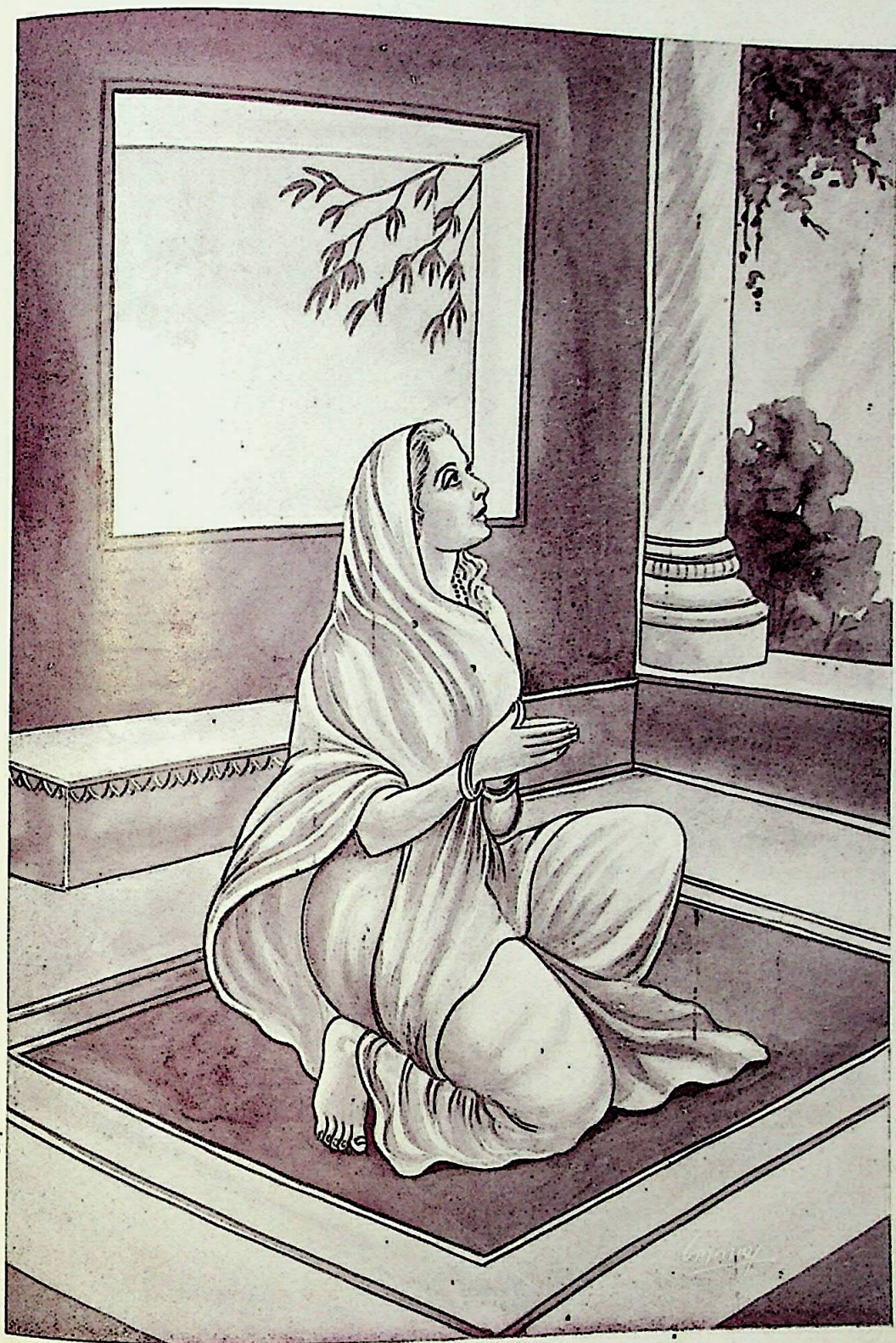
माँ कुन्ती

कर रक्खी हो। उसके शीलस्वभाव और संयमसे ब्राह्मणको बड़ा संतोष हुआ। कुन्तीकी यह बचपनकी ब्राह्मण-सेवा उसके लिये बड़ी कल्याणप्रद सिद्ध हुई। और इसीसे उनके जीवनमें संयम, सदाचार, त्याग एवं सेवाभावकी नींव पड़ी। आगे जाकर इन गुणोंका उनके अंदर अद्भुत विकास हुआ।

कुन्तीके अंदर निष्काम भावका विकास भी बचपनसे ही हो गया था। इन्हें बड़ी तत्परता एवं लगनके साथ महात्मा ब्राह्मणकी सेवा करते पूरा एक वर्ष हो गया। इनके सेवामन्त्र-का अनुष्ठान पूरा हुआ। इनकी सेवामें ढूँढ़नेपर भी ब्राह्मण-को कोई त्रुटि नहीं दिखायी दी। तब तो वे इनपर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा—'बेटी! मैं तेरी सेवासे बहुत प्रसन्न हूँ। मुझसे कोई वर माँग ले।' कुन्तीने ब्राह्मणदेवताको बड़ा ही सुन्दर उत्तर दिया। श्रीकृष्णकी बूआ और पाण्डवोंकी भावी माताका वह उत्तर सर्वथा अनुरूप था। कुन्तीने कहा—'भगवन्! आप और पिताजी मुझपर प्रसन्न हैं, मेरे सब कार्य तो इसीसे सफल हो गये। अब मुझे वरोंकी कोई आवश्यकता नहीं है।' एक अल्पवयस्क बालिकाके अंदर विलक्षण सेवाभावके साथ-साथ ऐसी निष्कामताका संयोग मणि-काञ्चन-संयोगके समान था। हमारे देशकी बालिकाओं-को कुन्तीके इस आदर्श निष्काम सेवाभावसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिये। अतिथि-सेवा हमारे सामाजिक जीवनका प्राण रही है और उसकी शिक्षा भारतवासियोंको बचपनसे ही मिल जाया करती थी। सच्ची एवं सात्त्विक सेवा वही है, जो प्रसन्नतापूर्वक की जाय—जिसमें भार अथवा उकताहट न प्रतीत हो, और जिसके बदलेमें कुछ न चाहा जाय। आजकलकी सेवामें प्रायः इन दोनों बातोंका अभाव देखा जाता है। प्रसन्नतापूर्वक निष्कामभावसे की हुई सेवा कल्याण-का परम साधन बन जाती है। अस्तु,

जब कुन्तीने ब्राह्मणसे कोई वर नहीं माँगा तो उन्होंने उससे देवताओंके आवाहनका मन्त्र ग्रहण करनेके लिये कहा। वे कुछ-न-कुछ कुन्तीको देकर जाना चाहते थे। अबकी बार ब्राह्मणके अपमानके भयसे वह इन्कार न कर सकी। तब उन्होंने उसे अथर्ववेदके शिरोभागमें आये हुए मन्त्रोंका उपदेश दिया और कहा कि 'इन मन्त्रोंके बलसे तू जिस-जिस देवताका आवाहन करेगी, वही तेरे अधीन हो जायगा।' यों कहकर वे ब्राह्मण वहीं अन्तर्धान हो गये। ये ब्राह्मण और कोई नहीं, उग्रतपा महर्षि दुर्वासा थे। इनके दिये हुए मन्त्रोंके प्रभावसे आगे चलकर कुन्तीने धर्म, वायु, इन्द्रका आवाहन करके इनसे क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनको पुत्ररूपमें प्राप्त किया। उसकी सपत्नी माद्रीको अश्विनीकुमारसे दो पुत्र प्राप्त हुए—नकुल और सहदेव।

कुन्तीका विवाह महाराज पाण्डुसे हुआ था। महाराज पाण्डु बड़े ही धर्मात्मा थे। इनके द्वारा एक बार भूलसे मृगरूपधारी किन्दम मुनिकी हिंसा हो गयी। इस घटनासे इनके मनमें बड़ी ग्लानि और निर्वेद हुआ और इन्होंने सब कुछ त्यागकर वनमें रहनेका निश्चय कर लिया। देवी कुन्ती बड़ी पतिभक्ता थीं। ये भी अपने पतिके साथ इन्द्रियोंको वशमें करके तथा कामजन्य सुखको तिलाञ्जलि देकर वनमें रहनेके लिये तैयार हो गयीं। तबसे इन्होंने जीवनपर्यन्त नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया और संयमपूर्वक रहीं। पतिका स्वर्गवास होनेपर इन्होंने अपने बच्चोंकी रक्षाका भार अपनी छोटी सौत माद्रीको सौंपकर अपने पतिका अनुगमन करनेका विचार किया। परंतु माद्रीने इसका विरोध किया। उसने कहा—'बहिन! मैं अभी युवती हूँ, अतः मैं ही पतिदेवका अनुगमन करूँगी। तुम मेरे बच्चोंकी सँभाल रखना।' कुन्तीने माद्रीकी बात मान ली और अन्ततक उसके पुत्रोंको अपने पुत्रोंसे बढ़कर समझा। सपत्नी एवं उसके पुत्रोंके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इसकी शिक्षा भी हमारी माता-बहिनोंको कुन्तीके जीवनसे लेनी चाहिये। पतिके जीवनकालमें इन्होंने माद्रीके साथ छोटी बहिनका-सा बर्ताव किया और उसके सती होनेके बाद उसके पुत्रोंके प्रति वही भाव रक्खा जो एक साध्वी स्त्रीको रखना चाहिये। सहदेवके प्रति तो उनकी विशेष ममता थी और वह भी इन्हें बहुत अधिक प्यार करता था।

पतिकी मृत्युके बादसे कुन्तीदेवीका जीवन बराबर कष्टमें बीता। परंतु ये बड़ी ही विचारशीला एवं धैर्यवती थीं। अतः इन्होंने कष्टोंकी कुछ भी परवा नहीं की और अन्ततक धर्मपर आरूढ़ रहीं। दुर्योधनके अत्याचारोंको भी ये चुपचाप सहती रहीं। इनका स्वभाव बड़ा ही कोमल और दयालु था। इन्हें अपने कष्टोंकी कोई परवा नहीं थी, परंतु ये दूसरोंका कष्ट नहीं देख सकती थीं। लाक्षाभवनसे निकलकर जब ये अपने पुत्रोंके साथ एकचक्रा नगरीमें रहने लगी थीं, उन दिनों वहाँकी प्रजापर एक बड़ा भारी संकट था। उस नगरीके पास ही एक बकासुर नामका राक्षस रहता था। उस राक्षसके लिये नगर-वासियोंको प्रतिदिन एक गाड़ी अन्न तथा दो भैंसे पहुँचाने पड़ते थे। जो मनुष्य इन्हें लेकर जाता, उसे भी वह राक्षस खा जाता। वहाँके निवासियोंको बारी-बारीसे यह काम करना पड़ता था। पाण्डवलोग जिस ब्राह्मणके घरमें भिक्षुकोंके रूपमें रहते थे, एक दिन उसके घरसे राक्षसके लिये आदमी भेजने-की बारी आयी। ब्राह्मण-परिवारमें कुहराम मच गया। कुन्तीको जब इस बातका पता लगा तो उनका हृदय दयासे भर आया। उन्होंने सोचा—'हमलोगोंके रहते ब्राह्मण-परिवारको कष्ट भोगना पड़े, यह हमारे लिये बड़ी लज्जाकी बात होगी। फिर हमारे तो ये आश्रयदाता हैं, इनका प्रत्युपकार हमें किसी-न-किसी रूपमें करना ही चाहिये। अवसर आनेपर

उपकारीका प्रत्युपकार न करना धर्मसे च्युत होना है । जब इनके घरमें हमलोग रह रहे हैं तो इनका दुःख बँटाना हमारा कर्तव्य हो जाता है ।' यों विचारकर कुन्ती ब्राह्मणके घर गयीं । उन्होंने देखा कि ब्राह्मण अपनी पत्नी और पुत्रके साथ बैठे हैं । वे अपनी स्त्रीसे कह रहे हैं, 'तुम कुलीन, शीलवती और बच्चोंकी माँ हो । मैं राक्षससे अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें उसके पास नहीं भेज सकता ।' पतिकी बात सुनकर ब्राह्मणीने कहा—'नहीं, मैं स्वयं उसके पास जाऊँगी । पत्नीके लिये सबसे बढ़कर सनातन कर्तव्य यही है कि वह अपने प्राणोंको निछावर करके पतिकी भलाई करे । स्त्रियोंके लिये यह बड़े सौभाग्यकी बात है कि वे अपने पतिसे पहले ही परलोकवासिनी हो जायँ । यह भी सम्भव है कि स्त्रीको अवध्य समझकर वह राक्षस मुझे न मारे । पुरुषका वध निर्विवाद है और स्त्रीका संदेहग्रस्त, इसलिये मुझे ही उसके पास भेजिये ।' माँ-बापकी दुःखभरी बात सुनकर कन्या बोली—'आप क्यों रो रहे हैं ? देखिये, धर्मके अनुसार आप दोनों मुझे एक-न-एक दिन छोड़ देंगे । इसलिये आज ही मुझे छोड़कर अपनी रक्षा क्यों नहीं कर लेते ? लोग संतान इसीलिये चाहते हैं कि वह हमें दुःखसे बचावे ।' यह सुनकर माँ-बाप दोनों रोने लगे; कन्या भी रोये बिना न रह सकी । सबको रोते देखकर नन्हा-सा ब्राह्मण-बालक कहने लगा—'पिताजी ! माताजी ! बहिन ! मत रोओ ।' फिर उसने एक तिनका उठाकर हँसते हुए कहा—'मैं इसीसे राक्षसको मार डालूँगा ।' तब सब लोग हँस पड़े । कुन्ती यह सब देख-सुन रही थीं । वे आगे बढ़कर उनसे बोलीं—'महाराज ! आपके तो एक पुत्र और एक ही कन्या है । मेरे आपकी दयासे पाँच पुत्र हैं । राक्षसको भोजन पहुँचानेके लिये मैं उनमेंसे किसीको भेज दूँगी; आप घबरायें नहीं ।' ब्राह्मणदेवताने कुन्तीदेवीके इस प्रस्तावको सुनते ही अस्वीकार कर दिया । उन्होंने कहा—'देवि ! आपका इस प्रकार कहना आपके अनुरूप ही है; परंतु मैं तो अपने लिये अपने अतिथिकी हत्या नहीं करा सकता ।' कुन्तीने उन्हें बतलाया कि 'मैं अपने जिस पुत्रको राक्षसके पास भेजूँगी, वह बड़ा बलवान्, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है; उसका कोई बाल भी बाँका नहीं कर सकता ।' इसपर ब्राह्मण राजी हो गये । तब कुन्तीने भीमसेनको उस कामके लिये राक्षसके पास भेज दिया । भला, दूसरोंकी प्राणरक्षाके लिये इस प्रकार अपने हृदयके टुकड़ेका जान-बूझकर कोई माता बलिदान कर सकती है ! कहना न होगा कि कुन्तीके इस आदर्श त्यागके प्रभावसे संसारपर बहुत ही अच्छा असर पड़ा । अतएव सभीको इससे शिक्षा लेनी चाहिये ।

कुन्तीदेवीका सत्यप्रेम भी आदर्श था । ये विनोदमें भी कभी झूठ नहीं बोलती थीं । भूलसे भी इनके मुँहसे जो बात निकल जाती थी, उसका ये जी-जानसे पालन करती थीं । इस प्रकारकी सत्यनिष्ठा इतिहासके पन्ने उलटनेपर भी दूसरी जगह प्रायः नहीं देखनेमें आती । अर्जुन और भीम स्वयंवरसे द्रौपदीको जीतकर जब माताके पास लाये और कहा कि 'माता ! आज हम यह भिक्षा लाये हैं' इन्होंने उन्हें बिना देखे ही कह दिया—'बेटा ! पाँचों भाई मिलकर इसका उपयोग करो ।' जब इन्हें मालूम हुआ कि ये एक कन्या लाये हैं, तब तो ये बड़े असमंजसमें पड़ गयीं । इन्होंने सोचा—'यदि मैं अपनी बात वापस लेती हूँ तो असत्यका दोष लगता है; और यदि अपने पुत्रोंको उसीके अनुसार चलनेके लिये कहती हूँ तो सनातन मर्यादाका लोप होता है ।' पाँच भाइयोंका एक स्त्रीसे विवाह हो—यह पहले कभी नहीं देखा-सुना गया था । ऐसी स्थितिमें कुन्तीदेवी कुछ भी निश्चय न कर सकीं, वे किंकर्तव्यविमूढ हो गयीं । अन्तमें उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरकी सम्मति पूछी और उन्होंने भी इन्हें सत्यपर कायम रहनेकी ही सलाह दी । पीछे राजा द्रुपदकी ओरसे आपत्ति होनेपर वेदव्यासजीने द्रौपदीके पूर्वजन्मोंकी कथा कहते हुए उन्हें समझाया कि शङ्करजीके वरदानसे ये पाँचों ही द्रुपदकुमारीका पाणिग्रहण करेंगे । इस प्रकार पाँचोंके साथ द्रुपदकुमारी विधिपूर्वक व्याह दी गयीं । कुन्तीदेवीकी सत्यनिष्ठाकी विजय हुई । उनके मुखसे हठात् ऐसी ही बात निकली, जो होनेवाली थी । सत्यका दृढ़तापूर्वक आश्रय लेनेपर ऐसा होना किसीके लिये भी असम्भव नहीं है । अस्तु,

कुन्तीदेवीका जीवन शुरूसे अन्ततक बड़ा ही त्यागपूर्ण, तपस्यामय और अनासक्त था । पाण्डवोंके वनवास एवं अज्ञातवासके समय ये उनसे अलग हस्तिनापुरमें ही रहीं और वहींसे इन्होंने अपने पुत्रोंके लिये अपने भतीजे भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा क्षत्रियधर्मपर डटे रहनेका संदेश भेजा । इन्होंने विदुला और संजयका दृष्टान्त देकर बड़े ही मार्मिक शब्दोंमें उन्हें कहला भेजा—'पुत्रो ! जिस कार्यके लिये क्षत्राणी पुत्र उत्पन्न करती है, उस कार्यके करनेका समय आ गया है । * इस समय तुमलोग मेरे दूधको न लजाना ।' महाभारत-युद्धके समय भी ये वहीं रहीं और युद्ध-समाप्तिके बाद जब धर्मराज युधिष्ठिर सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुए और इन्हें राजमाता बननेका सौभाग्य प्राप्त हुआ, उस समय इन्होंने पुत्रवियोगसे दुखी अपने जेठ-जेठानीकी सेवाका भार अपने ऊपर ले लिया और द्वेष एवं अभिमानरहित होकर उनकी सेवामें अपना समय बिताने लगीं । यहाँतक कि जब ये दोनों युधिष्ठिरसे अनुमति लेकर वन जाने लगे, उस समय ये चुपचाप उनके सङ्ग हो लीं और युधिष्ठिर

* एतद्धनञ्जयो वाच्यो नित्योद्युक्तो वृकोदरः ॥
यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ।
(महा० उद्योग० १३६ । ९-१०)

आदिके समझानेपर भी अपने दृढ़ निश्चयसे विचलित नहीं हुई। जीवनभर दुःख और क्लेश भोगनेके बाद जब सुखके दिन आये, उस समय भी सांसारिक सुख-भोगको ठुकराकर स्वेच्छासे त्याग, तपस्या एवं सेवामय जीवन स्वीकार करना कुन्तीदेवी-जैसी पवित्र आत्माका ही काम था। जिन जेठ-जेठानीसे उन्हें तथा उनके पुत्रों एवं पुत्रवधुओंको कष्ट, अपमान एवं अत्याचारके अतिरिक्त कुछ नहीं मिला, उन जेठ-जेठानीके लिये इतना त्याग संसारमें कहाँ देखनेको मिलता है। हमारी माताओं एवं बहिनोंको कुन्तीदेवीके इस अनुपम त्यागसे शिक्षा लेनी चाहिये।

कुन्तीदेवीको वन जाते समय भीमसेनने समझाया कि 'माता! यदि तुम्हें अन्तमें यही करना था तो फिर नाहक हमलोगोंके द्वारा इतना नर-संहार क्यों करवाया? हमारे वनवासी पिताकी मृत्युके बाद हमें वनसे नगरमें क्यों लायीं?' उस समय कुन्तीदेवीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह हृदयमें अङ्कित करने योग्य है। वे बोलीं—'बेटा! तुमलोग कायर बनकर हाथ-पर-हाथ रखकर न बैठे रहो, क्षत्रियोचित पुरुषार्थको त्यागकर अपमानपूर्ण जीवन न व्यतीत करो, शक्ति रहते अपने न्यायोचित अधिकारसे सदाके लिये हाथ न धो बैठो—इसीलिये मैंने तुमलोगोंको युद्धके लिये उकसाया था, अपने सुखकी इच्छासे ऐसा नहीं किया था। मुझे राज्य-सुख भोगनेकी इच्छा नहीं है। मैं तो अब तपके द्वारा पतिलोकमें जाना चाहती हूँ। इसलिये अपने वनवासी जेठ-जेठानीकी सेवामें रहकर मैं अपना शेष जीवन तपमें ही बिताऊँगी। तुमलोग सुखपूर्वक घर लौट जाओ और धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करते हुए अपने परिजनोंको सुख दो।' इस प्रकार अपने पुत्रोंको समझा-बुझाकर कुन्तीदेवी अपने जेठ-जेठानीके साथ वनमें चली गयीं और अन्तसमय-तक उनकी सेवामें रहकर उन्हींके साथ दावाग्निमें जलकर योगियोंकी भाँति शरीर छोड़ दिया। कुन्तीदेवी-जैसी आदर्श महिलाएँ संसारके इतिहासमें बहुत कम मिलेंगी।

देवी द्रौपदी

देवी द्रौपदी पञ्चालनरेश राजा द्रुपदकी अयोनिजा पुत्री थीं। इनकी उत्पत्ति यज्ञवेदीसे हुई थी। इनका रूप-लावण्य अनुपम था। इनके-जैसी सुन्दरी उस समय पृथ्वी-भरमें कोई नहीं थी। इनके शरीरसे तुरंतके खिले कमलकी-सी गन्ध निकलकर एक कोसतक फैल जाती थी। इनके जन्मके समय आकाशवाणीने कहा था—'देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये क्षत्रियोंके संहारके उद्देश्यसे इस रमणीरत्नका जन्म हुआ है। इसके कारण कौरवोंको बड़ा भय होगा।' कृष्णवर्णा होनेके कारण लोग इन्हें कृष्णा कहते थे। पूर्वजन्ममें दिये हुए भगवान् शङ्करके वरदानसे इन्हें इस जन्ममें पाँच पति प्राप्त हुए। अकेले अर्जुनके द्वारा स्वयंवरमें जीती जानेपर भी माता कुन्तीकी आज्ञासे इन्हें पाँचों भाइयोंने ब्याहा था।

द्रौपदी आदर्श पत्नी थीं। राजसूय यज्ञसे लौटनेपर दुर्योधनने धृतराष्ट्रसे कहा था—'राजन्! उस यज्ञमें द्रौपदी पहले स्वयं भोजन न करके इस बातकी देख-भाल करती थी कि कुबड़ों और बौनोंतक सब लोगोंमें कौन खा चुका और किसको भोजन नहीं मिला।' आर्यगृहिणीका यही आदर्श है। आज भी धर्मभीरु कुलाङ्गनाएँ सबको खिलाकर अन्तमें भोजन करती हैं।

द्रौपदी उच्च कोटिकी पतिव्रता एवं भगवद्भक्ता थीं। इनकी भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंमें अविचल प्रीति थी। ये उन्हें अपना रक्षक, हितू एवं परम आत्मीय तो मानती ही थीं, उनकी सर्वव्यापकता एवं सर्वशक्तिमत्तामें भी इनका पूर्ण विश्वास था। जब कौरवोंकी सभामें दुष्ट दुःशासनने इन्हें नंगी करना चाहा और सभासदोंमेंसे किसीकी हिम्मत न हुई कि इस अमानुषी अत्याचारको रोके, उस समय अपनी लाज बचानेका कोई दूसरा उपाय न देख इन्होंने अत्यन्त आतुर होकर भगवान् श्रीकृष्णको पुकारा—

> गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजनप्रिय ॥
> कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
> हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्त्तिनाशन ॥
> कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन।
> कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ॥
> प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम्।
>
> (महा० सभा० ६८। ४१—४४)

'हे गोविन्द! हे द्वारकावासी! हे गोपीजन-प्रिय श्रीकृष्ण! हे केशव! क्या तुम नहीं जानते कि मैं कौरवोंके द्वारा अपमानित हो रही हूँ। हे नाथ! हे रमापति! हे व्रजेश! हे संकटोंका नाश करनेवाले जनार्दन! मुझ कौरव-रूपी समुद्रमें डूबती हुई अबलाका उद्धार करो। हे महायोगी हे विश्वात्मा! हे विश्वभावन श्रीकृष्ण! हे श्रीकृष्ण! कौरवोंके बीच विपन्नावस्थाको प्राप्त मुझ शरणागतकी रक्षा कीजिये।'

सच्चे हृदयकी करुण पुकार भगवान् बहुत जल्दी सुनते हैं। श्रीकृष्ण उस समय द्वारकामें थे। वहाँसे वे तुरंत दौड़े आये और धर्मरूपसे द्रौपदीके वस्त्रोंमें छिपकर उनकी लाज बचायी। भगवान्‌की कृपासे द्रौपदीकी साड़ी अनन्तगुना बढ़ गयी। दुःशासन उसे जितना ही खींचता था, उतना ही वह बढ़ती जाती थी। देखते-देखते वहाँ वस्त्रका ढेर लग गया। महाबली दुःशासनकी प्रचण्ड भुजाएँ थक गयीं

परंतु साड़ीका छोर हाथ नहीं आया। उपस्थित सारे समाजने भगवद्भक्ति एवं पातिव्रत्यका अद्भुत चमत्कार देखा। अन्तमें दुःशासन हारकर लज्जित हो बैठ गया। भक्तवत्सल प्रभुने अपने भक्तकी लाज रख ली। धन्य भक्तवत्सलता !

एक दिनकी बात है—जब पाण्डवलोग द्रौपदीके साथ काम्यक वनमें रह रहे थे, दुर्योधनके भेजे हुए महर्षि दुर्वासा अपने दस हजार शिष्योंको साथ लेकर पाण्डवोंके पास आये। दुर्योधनने जान-बूझकर उन्हें ऐसे समयमें भेजा जब कि सब लोग भोजन करके विश्राम कर रहे थे। महाराज युधिष्ठिरने अतिथिसेवाके उद्देश्यसे ही भगवान् सूर्यदेवसे एक ऐसा चमत्कारी बर्तन प्राप्त किया था, जिसमें पकाया हुआ थोड़ा-सा भी भोजन अक्षय हो जाता था। लेकिन उसमें शर्त यही थी कि जबतक द्रौपदी भोजन नहीं कर चुकती थीं, तभीतक उस बर्तनमें यह करामात रहती थी। युधिष्ठिरने महर्षिको शिष्यमण्डलीके सहित भोजनके लिये आमन्त्रित किया और दुर्वासाजी स्नानादि नित्यकर्मसे निवृत्त होनेके लिये सबके साथ गङ्गातटपर चले गये।

दुर्वासाजीके साथ दस हजार शिष्योंका एक पूरा-का-पूरा विश्वविद्यालय-सा चला करता था। धर्मराजने उन सबको भोजनका निमन्त्रण तो दे दिया और ऋषिने उसे स्वीकार भी कर लिया; परंतु किसीने भी इसका विचार नहीं किया कि द्रौपदी भोजन कर चुकी हैं, इसलिये सूर्यके दिये हुए बर्तनसे तो उन लोगोंके भोजनकी व्यवस्था हो नहीं सकती थी। द्रौपदी बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं। उन्होंने सोचा—'ऋषि यदि बिना भोजन किये वापस लौट जाते हैं तो वे बिना शाप दिये नहीं रहेंगे।' उनका क्रोधी स्वभाव जगद्विख्यात था। द्रौपदीको और कोई उपाय नहीं सूझा। तब उन्होंने मन-ही-मन भक्त-भय-भञ्जन भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया और इस आपत्तिसे उबारनेकी उनसे इस प्रकार प्रार्थना की—

कृष्ण कृष्ण महाबाहो देवकीनन्दनाव्यय ॥
वासुदेव जगन्नाथ प्रणतार्तिविनाशन।
विश्वात्मन् विश्वजनक विश्वहर्तः प्रभोऽव्यय ॥
प्रपन्नपाल गोपाल प्रजापाल परात्पर।
आकूतीनां च चित्तीनां प्रवर्तक नतास्मि ते ॥
वरेण्य वरदानन्त अगतीनां गतिर्भव।
पुराणपुरुष प्राणमनोवृत्त्याद्यगोचर ॥
सर्वाध्यक्ष पराध्यक्ष त्वामहं शरणं गता।
पाहि मां कृपया देव शरणागतवत्सल ॥
नीलोत्पलदलश्याम पद्मगर्भारुणेक्षण।
पीताम्बरपरीधान लसत्कौस्तुभभूषण ॥
त्वमादिरन्तो भूतानां त्वमेव च परायणम्।
परात्परतरं ज्योतिर्विश्वात्मा सर्वतोमुखः ॥
त्वामेवाहुः परं बीजं निधानं सर्वसम्पदाम्।
त्वया नाथेन देवेश सर्वापद्भ्यो भयं न हि ॥
दुःशासनादहं पूर्वं सभायां मोचिता यथा।
तथैव सङ्कटादस्मान्मामुद्धर्तुमिहार्हसि ॥

(महा० वन० २६३। ८-१६)

'हे कृष्ण ! हे महाबाहु श्रीकृष्ण ! हे देवकीनन्दन ! हे अविनाशी वासुदेव ! हे प्रणत जनके दुःख दूर करनेवाले जगदीश्वर ! हे विश्वात्मन्, विश्वके पिता, विश्वका संहार करनेवाले, शरणागत-रक्षक गोपाल ! हे प्रभो ! तुम अव्यय हो, प्रजापालक हो, परात्पर हो, तुम मन और बुद्धिके प्रेरक हो। हे परमात्मन् ! तुझको मेरा प्रणाम ! सबके वरण करने योग्य हे वरदाता ! हे अनन्त ! जिसकी कोई गति नहीं है उसकी गति (सहायक) बनो। हे पुराणपुरुष ! हे प्राण, मन, बुद्धि आदिके अगोचर ! सबके स्वामी, परम प्रभु ! हम तुम्हारी शरणमें हैं। हे शरणागतवत्सल ! हे देव ! कृपया मुझे बचाओ। हे नीलकमलदलके समान श्यामवदन ! कमल पुष्पके गर्भके समान अरुणनयन ! हे पीताम्बरधारी ! हे श्रीकृष्ण ! तुम्हारे वक्षःस्थलपर कौस्तुभ सुशोभित है। तुम्हीं भूतोंके आदि और अन्त हो, तुम्हीं सबके परम आश्रय हो। तुम परात्पर हो, ज्योतिर्मय विश्वात्मा हो, सब ओर मुँहवाले परमेश्वर हो। ज्ञानीलोग तुमको ही इस जगत्का परम बीज तथा सम्पूर्ण सम्पदाओंकी निधि बतलाते हैं। हे देवेश ! यदि तुम मेरे रक्षक हो तो मुझे समस्त आपदाओंसे भी भय नहीं है। जैसे तुमने पहले कौरवसभामें दुःशासनसे मेरी रक्षा की थी, उसी प्रकार तुम्हीं इस संकटमें मेरा उद्धार कर सकते हो।'

श्रीकृष्ण तो घट-घटकी जाननेवाले हैं। वे तुरंत वहाँ आ पहुँचे। उन्हें देखकर द्रौपदीके शरीरमें मानो प्राण आ गये, डूबते हुएको मानो सहारा मिल गया। द्रौपदीने संक्षेपमें उन्हें सारी बात सुना दी। श्रीकृष्णने अधीरता प्रदर्शित करते हुए कहा—'और सब बात पीछे होगी, पहले मुझे जल्दी कुछ खानेको दो। मुझे बड़ी भूख लगी है। तुम जानती नहीं हो मैं कितनी दूरसे हारा-थका आया हूँ।' द्रौपदी लाजके मारे गड़-सी गयीं। उन्होंने रुकते-रुकते कहा—'प्रभो ! मैं अभी-अभी खाकर उठी हूँ। अब तो उस बटलोईमें कुछ भी नहीं बचा है।' श्रीकृष्णने कहा—'जरा अपनी बटलोई मुझे दिखाओ तो सही।' कृष्णा बटलोई ले आयीं। श्रीकृष्णने उसे हाथमें लेकर देखा तो उसके गलेमें उन्हें एक सागका पत्ता चिपका हुआ मिला। उन्होंने उसीको मुँहमें डालकर कहा—'इस सागके पत्तेसे सम्पूर्ण जगत्के आत्मा यज्ञभोक्ता परमेश्वर तृप्त हो जायँ।' इसके बाद उन्होंने सहदेवसे कहा—'भैया ! अब तुम मुनीश्वरोंको भोजनके लिये बुला लाओ।' सहदेवने गङ्गातटपर
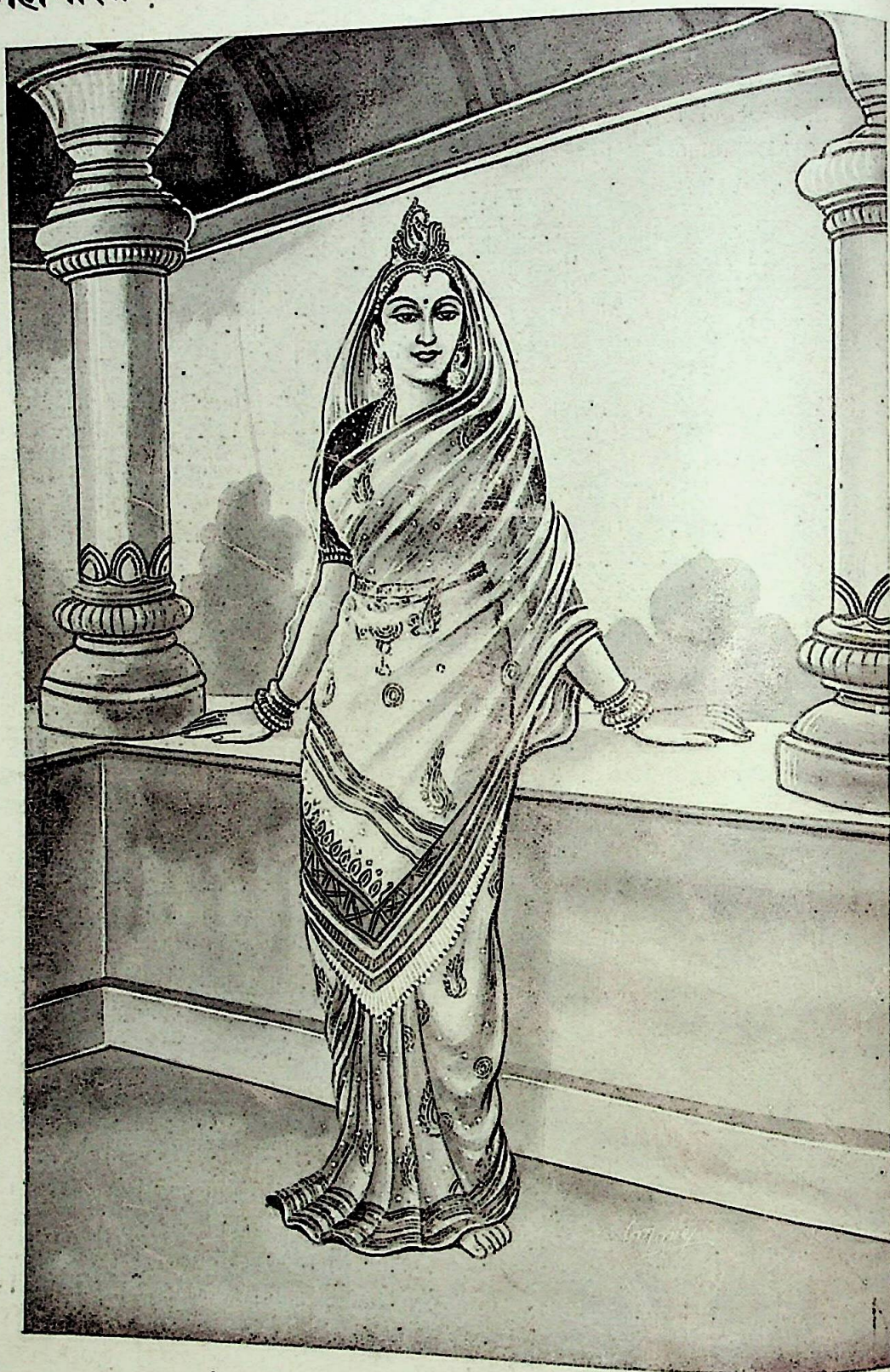
देवी द्रौपदी

जाकर देखा तो वहाँ उन्हें कोई नहीं मिला। बात यह हुई कि जिस समय श्रीकृष्णने सागका पत्ता मुँहमें डालकर वह संकल्प, पढ़ा उस समय मुनीश्वरलोग जलमें खड़े होकर अघमर्षण कर रहे थे। उन्हें अकस्मात् ऐसा अनुभव होने लगा मानो उनका पेट गलेतक अन्नसे भर गया हो। वे सब एक दूसरेके मुँहकी ओर ताकने लगे और कहने लगे कि 'अब हमलोग वहाँ जाकर क्या खायेंगे ?'। दुर्वासाने चुपचाप भाग जाना ही श्रेयस्कर समझा; क्योंकि वे यह जानते थे कि पाण्डव भगवद्भक्त हैं और अम्बरीषके यहाँ उनपर जो कुछ बीती थी, उसके बादसे उन्हें भगवद्भक्तोंसे बड़ा डर लगने लगा था। बस, सब लोग वहाँसे चुपचाप भाग निकले। सहदेवको वहाँ रहनेवाले तपस्वियोंसे उन सबके भाग जानेका समाचार मिला और उन्होंने लौटकर सारी बात धर्मराजसे कह दी। इस प्रकार द्रौपदीकी श्रीकृष्ण-भक्तिसे पाण्डवोंकी एक भारी बला टल गयी। श्रीकृष्णने आकर उन्हें दुर्वासाके कोपसे बचा लिया और इस प्रकार अपनी शरणागतवत्सलताका परिचय दिया।

× × ×

एक बार वनमें भगवान् श्रीकृष्ण देवी सत्यभामाके साथ पाण्डवोंसे मिलने आये। उस समय बातों-ही-बातोंमें सत्यभामाजीने द्रौपदीसे पूछा—"बहिन! मैं तुमसे एक बात पूछती हूँ। मैं देखती हूँ कि तुम्हारे शूरवीर और बलवान् पति सदा तुम्हारे अधीन रहते हैं; इसका क्या कारण है ? तुम कोई जंतर-मंतर या औषध जानती हो ? अथवा तुमने जप, तप, व्रत, होम या विद्यासे उन्हें वशमें कर रक्खा है ? मुझे भी कोई ऐसा उपाय बताओ, जिससे भगवान् श्यामसुन्दर मेरे वशमें हो जायँ।' देवी द्रौपदीने कहा—'बहिन! आप श्यामसुन्दरकी पटरानी एवं प्रियतमा होकर कैसी बात करती हैं। सती-साध्वी स्त्रियाँ जंतर-मंतर आदिसे उतनी ही दूर रहती हैं, जितनी साँप-बिच्छूसे। क्या पतिको जंतर-मंतर आदिसे वशमें किया जा सकता है ? भोली-भाली अथवा दुराचारिणी स्त्रियाँ ही पतिको वशमें करनेके लिये इस प्रकारके प्रयोग किया करती हैं। ऐसा करके वे अपना तथा अपने पतिका अहित ही करती हैं। ऐसी स्त्रियोंसे सदा दूर रहना चाहिये।'

इसके बाद उन्होंने बतलाया कि अपने पतियोंको प्रसन्न रखनेके लिये वे किस प्रकारका आचरण करती थीं। उन्होंने कहा—"बहिन! मैं अहङ्कार और काम-क्रोधका परित्याग करके बड़ी सावधानीसे सब पाण्डवोंकी और उनकी स्त्रियोंकी सेवा करती हूँ। मैं ईर्ष्यासे दूर रहती हूँ और मनको काबूमें रखकर केवल सेवाकी इच्छासे ही अपने पतियोंका मन रखती हूँ। मैं कटुभाषणसे दूर रहती हूँ, असभ्यतासे खड़ी नहीं होती, खोटी बातोंपर दृष्टि नहीं डालती, बुरी जगहपर नहीं बैठती, दूषित आचरणके पास भी नहीं फटकती तथा पतियोंके अभिप्रायपूर्ण संकेतका अनुसरण करती हूँ। देवता, मनुष्य, गन्धर्व, युवा, धनी अथवा रूपवान्—कैसा ही पुरुष क्यों न हो, मेरा मन पाण्डवोंके सिवा और कहीं नहीं जाता। अपने पतियोंके भोजन किये बिना मैं भोजन नहीं करती, स्नान किये बिना स्नान नहीं करती और बैठे बिना स्वयं नहीं बैठती। जब-जब मेरे पति घर आते हैं, तब-तब मैं खड़ी होकर उन्हें आसन और जल देती हूँ। मैं घरके बर्तनोंको माँज-धोकर साफ रखती हूँ, मधुर रसोई तैयार करती हूँ, समयपर भोजन कराती हूँ, सदा सजग रहती हूँ, घरमें अनाजकी रक्षा करती हूँ और घरको झाड़-बुहारकर साफ रखती हूँ। मैं बातचीतमें किसीका तिरस्कार नहीं करती, कुलटा स्त्रियोंके पास नहीं जाती और सदा ही पतियोंके अनुकूल रहकर आलस्यसे दूर रहती हूँ। मैं दरवाजेपर बार-बार जाकर खड़ी नहीं होती तथा खुली अथवा कूड़ा-करकट डालनेकी जगहपर भी अधिक नहीं ठहरती, किंतु सदा ही सत्यभाषण और पतिसेवामें तत्पर रहती हूँ। पतिदेवके बिना अकेली रहना मुझे बिल्कुल पसंद नहीं है। जब किसी कौटुम्बिक कार्यसे पतिदेव बाहर चले जाते हैं तो मैं पुष्प और चन्दनादिको छोड़कर नियम और व्रतोंका पालन करते हुए समय बिताती हूँ। मेरे पति जिस चीजको नहीं खाते, नहीं पीते अथवा सेवन नहीं करते, मैं भी उससे दूर रहती हूँ। स्त्रियोंके लिये शास्त्रने जो-जो बातें बतायी हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। शरीरको यथाप्राप्त वस्त्रालङ्कारोंसे सुसज्जित रखती हूँ तथा सर्वदा सावधान रहकर पतिदेवका प्रिय करनेमें तत्पर रहती हूँ।

"सासजीने मुझे कुटुम्बसम्बन्धी जो-जो धर्म बताये हैं, उन सबका मैं पालन करती हूँ। भिक्षा देना, पूजन, श्राद्ध, त्यौहारोंपर पकवान बनाना, माननीयोंका आदर करना तथा और भी मेरे लिये जो-जो धर्म विहित हैं, उन सभीका मैं सावधानीसे रात-दिन आचरण करती हूँ, मैं विनय और नियमोंको सर्वदा सब प्रकार अपनाये रहती हूँ। मेरे विचारसे तो स्त्रियोंका सनातनधर्म पतिके अधीन रहना ही है, वही उनका इष्टदेव है। मैं अपने पतियोंसे बढ़कर कभी नहीं रहती, उनसे अच्छा भोजन नहीं करती, उनसे बढ़िया वस्त्राभूषण नहीं पहनती और न कभी सासजीसे वाद-विवाद करती हूँ, तथा सदा ही संयमका पालन करती हूँ। मैं सदा अपने पतियोंसे पहले उठती हूँ तथा बड़े-बूढ़ोंकी सेवामें लगी रहती हूँ। अपनी सासकी मैं भोजन, वस्त्र और जल आदिसे सदा ही सेवा करती रहती हूँ। वस्त्र, आभूषण और भोजनादिमें मैं कभी उनकी अपेक्षा अपने लिये कोई विशेषता नहीं रखती। पहले महाराज युधिष्ठिरके दस हजार दासियाँ थीं। मुझे उनके नाम, रूप, वस्त्र आदि सबका पता रहता था और इस

बातका भी ध्यान रहता था कि किसने क्या काम कर लिया है और क्या नहीं । जिस समय इन्द्रप्रस्थमें रहकर महाराज युधिष्ठिर पृथ्वी-पालन करते थे, उस समय उनके साथ एक लाख घोड़े और उतने ही हाथी चलते थे । उनकी गणना और प्रबन्ध मैं ही करती थी और मैं ही उनकी आवश्यकताएँ सुनती थी । अन्तःपुरके ग्वालों और गड़रियोंसे लेकर सभी सेवकोंके काम-काजकी देख-रेख भी मैं ही किया करती थी ।

"महाराजकी जो कुछ आय, व्यय और बचत होती थी, उस सबका विवरण मैं अकेली ही रखती थी । पाण्डवलोग कुटुम्बका सारा भार मेरे ऊपर छोड़कर पूजा-पाठमें लगे रहते थे और आये-गयोंका स्वागत-सत्कार करते थे; और मैं सब प्रकारका सुख छोड़कर उसकी सँभाल करती थी । मेरे पतियोंका जो अटूट खजाना था, उसका पता भी मुझ एकको ही था । मैं भूख-प्यासको सहकर रात-दिन पाण्डवोंकी सेवामें लगी रहती । उस समय रात और दिन मेरे लिये समान हो गये थे । मैं सदा ही सबसे पहले उठती और सबसे पीछे सोती थी । सत्यभामाजी ! पतियोंको अनुकूल बनानेका मुझे तो यही उपाय मालूम है ।" एक आदर्श गृहपत्नीको घरमें किस प्रकार रहना चाहिये—इसकी शिक्षा हमें द्रौपदीके जीवनसे लेनी चाहिये ।

× × ×

देवी द्रौपदीमें क्षत्रियोचित तेज और भक्तोचित क्षमा—दोनोंका अभूतपूर्व सम्मिश्रण था । ये बड़ी बुद्धिमती और विदुषी भी थीं । इनका त्याग भी अद्भुत था । इनके पातिव्रत्यका तो सभी लोग लोहा मानते थे । इन्हें जब दुष्ट दुःशासन बाल खींचते हुए सभामें घसीटकर लाया, उस समय इन्होंने उसे डाँटते हुए अपने पतियोंके कोपका भय दिखलाया और सारे सभासदोंको धिक्कारते हुए द्रोण, भीष्म और विदुर-जैसे सम्मान्य गुरुजनोंको भी उनके चुप बैठे रहनेपर फटकारा । इन्होंने साहसपूर्वक सभासदोंको ललकारकर उनसे न्यायकी माँग की और उन्हें धर्मकी दुहाई देकर यह पूछा कि 'जब महाराज युधिष्ठिरने अपनेको हारकर पीछे मुझे दाँवपर लगाया है, ऐसी हालतमें उनका मुझे दाँवपर लगानेका अधिकार था या नहीं ?' सब-के-सब सभासद् चुप रहे । किसीसे द्रौपदीके इस प्रश्नका उत्तर देते नहीं बना । अन्तमें दुर्योधनके भाई विकर्णने उठकर सबसे द्रौपदीके प्रश्नका उत्तर देने और मौन भङ्ग करनेके लिये अनुरोध किया और अपनी ओरसे यह सम्मति प्रकट की कि 'प्रथम तो द्रौपदी पाँचों भाइयोंकी स्त्री है, अतः अकेले युधिष्ठिरको उन्हें दाँवपर रखनेका कोई अधिकार नहीं था । दूसरे उन्होंने अपनेको हारनेके बाद द्रौपदीको दाँवपर लगाया था, इसलिये भी यह उनकी अनधिकार चेष्टा ही समझी जायगी ।' विकर्णकी बात सुनकर विदुरने भी उसका समर्थन किया और अन्य सभासदोंने भी उनकी प्रशंसा की । परंतु कर्णने डाँटते हुए उसे बलपूर्वक बैठा दिया । इस प्रकार भरी सभामें दुःशासनद्वारा घसीटी जाने एवं अपमानित होनेपर भी द्रौपदीकी नैतिक विजय ही हुई । उनकी बुद्धि सर्वोपरि रही । कोई भी उनकी बातका खण्डन नहीं कर सका । अन्तमें विदुरके समझानेपर धृतराष्ट्रने दुर्योधनको डाँटा और द्रौपदीको प्रसन्न करनेके लिये उनसे वर माँगनेको कहा । इन्होंने वरदानके रूपमें धृतराष्ट्रसे केवल यही माँगा कि मेरे पाँचों पति दासतासे मुक्त कर दिये जायँ ।' धृतराष्ट्रने कहा—'बेटी ! और भी कुछ माँग ले ।' उस समय द्रौपदीने उन्हें जो उत्तर दिया, वह सर्वथा द्रौपदीके अनुरूप ही था । उससे इनकी निर्लोभता एवं धर्मप्रेम स्पष्ट झलकता था । इन्होंने कहा—'महाराज ! अधिक लोभ करना ठीक नहीं । और कुछ माँगनेकी मेरी बिल्कुल इच्छा नहीं है । मेरे पति स्वयं समर्थ हैं । अब जब वे दासतासे मुक्त हो गये हैं तो बाकी सब कुछ वे स्वयं कर लेंगे ।' इस प्रकार द्रौपदीने अपनी बुद्धिमत्ता एवं पातिव्रत्यके बलसे अपने पतियोंको दासतासे मुक्त करा दिया ।

द्रौपदीके जिन लंबे-लंबे, काले बालोंका कुछ ही दिन पहले राजसूय यज्ञमें अवभृथ-स्नानके समय मन्त्रपूत जलसे अभिषेक किया गया था, उन्हीं बालोंका दुष्ट दुःशासनके द्वारा भरी सभामें खींचा जाना द्रौपदीको कभी नहीं भूला । उस अभूतपूर्व अपमानकी आग उनके हृदयमें सदा ही जला करती थी । इसीलिये जब-जब उनके सामने कौरवोंसे संधि करनेकी बात आयी, तब-तब इन्होंने उसका विरोध ही किया और बराबर अपने अपमानकी याद दिलाकर अपने पतियोंको युद्धके लिये प्रोत्साहित करती रहीं । अन्तमें जब यही तय हुआ कि एक बार कौरवोंको समझा-बुझाकर देख लिया जाय और जब भगवान् श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी ओरसे संधिका प्रस्ताव लेकर हस्तिनापुर जाने लगे, उस समय भी इन्हें अपने अपमानकी बात नहीं भूली और इन्होंने अपने लंबे-लंबे बालोंको हाथमें लेकर श्रीकृष्णसे सहा—'श्रीकृष्ण ! तुम संधि करने जा रहे हो, सो तो ठीक है । परंतु तुम मेरे केशोंको न भूल जाना ।' इन्होंने यहाँतक कह दिया कि 'यदि पाण्डवोंकी युद्ध करनेकी इच्छा नहीं है तो कोई बात नहीं; अपने महारथी पुत्रोंके सहित मेरे वृद्ध पिता कौरवोंसे संग्राम करेंगे तथा अभिमन्युके सहित मेरे पाँचों बली पुत्र उनके साथ जूझेंगे ।' द्रौपदी वीर क्षत्राणी थी ।

× × ×

काम्यकवनमें जब दुष्ट जयद्रथ द्रौपदीको बलपूर्वक ले जानेकी चेष्टा करने लगा, उस समय इन्होंने उसे इतने जोरसे धक्का दिया कि वह कटे हुए पेड़की तरहं जमीनपर गिर पड़ा । किंतु वह तुरंत ही सँभलकर खड़ा हो गया और इन्हें जबर्दस्ती रथपर बैठाकर ले चला । पीछे जब भीम और

अर्जुन उसे पकड़ लाये और उसकी काफी मरम्मत बना चुके, तब इन्होंने दयापूर्वक उसे छुड़ा दिया। इस प्रकार द्रौपदी क्रोधके साथ-साथ क्षमा करना भी जानती थीं। इनका पातिव्रत्य तेज तो अपूर्व था ही। जिस किसीने इनके साथ छेड़-छाड़ अथवा दुश्चेष्टा की, उसीको प्राणोंसे हाथ धोने पड़े। दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण, जयद्रथ, कीचक आदि सबकी यही दशा हुई। भला, पतिव्रता-पीड़िता नारीकी हाय किसको नहीं खा लेगी। महाभारत-युद्धमें जो कौरवोंका सर्वनाश हुआ, उसका मूल सती द्रौपदीका अपमान ही था। द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंकी सुप्तावस्थामें जब अश्वत्थामाने हत्या कर डाली, उस अवसरपर द्रौपदीने द्रोणपुत्रको मारकर उसकी मणि ले आनेके लिये भीमसेनसे कहा। पाण्डवोंमें भीमसेनके पराक्रमपर ही द्रौपदीको अधिक विश्वास था। क्योंकि उसने उनको अनेक बार असाध्य कर्मको भी सम्पादन करते देखा था। भीमसेन अश्वत्थामाको मारनेके लिये गये, परंतु उसको बिना मारे ही व्यासजीके बीच-बचावसे वे मणि लेकर लौटे, और द्रौपदीसे बोले कि, 'देवि! द्रोणपुत्रको ब्राह्मण समझकर मैंने छोड़ दिया, अब उसका केवल शरीरमात्र बचा हुआ है; क्योंकि मणि ले लेनेपर उसका यश समाप्त हो गया। देवि! यह मणि तुम लो।'

द्रौपदीका क्रोध शान्त हो गया। उसने कहा—'अच्छा ही किया जो आपने अश्वत्थामाको छोड़ दिया। वह गुरुपुत्र है, मेरे गुरुके समान है। मणि ले लेनेसे बदला चुक गया। अब इस मणिको महाराज युधिष्ठिर सिरपर धारण करें।' उसके बाद द्रौपदीके कहनेसे गुरुका उच्छिष्ट समझकर युधिष्ठिर उस मणिको सिरपर धारणकर सुशोभित हो उठे। द्रुपदतनया द्रौपदीके उज्ज्वल चरित्रकी यह भी एक अलौकिक घटना है। अपने पाँच पुत्रोंका वध करनेवाले अश्वत्थामाको भी गुरुपुत्र समझकर उसके प्रति गुरु-भाव व्यक्त करना महामहिममयी रानी द्रौपदीका ही काम हो सकता है। ऐसी आदर्श क्षमाशीलता अन्यत्र कहीं देखनेको नहीं मिलती।

महाभारतके महानायक

(लेखक—आचार्य श्रीअक्षयकुमार बन्द्योपाध्याय एम्० ए०)

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र आज उत्कट समरक्षेत्रके रूपमें परिणत है। जो सुपवित्र भूमि प्राचीन कालमें ब्रह्मर्षि और राजर्षियोंकी यज्ञस्थलीके रूपमें व्यवहृत होती थी, जहाँ 'आत्मनो मोक्षार्थं जनताहिताय च' समस्त पार्थिव सम्पत्तिको विश्वप्राण विष्णुकी सेवामें उत्सर्ग करके आर्यसंतान अपने मानवत्वके पूर्णता-सम्पादनका व्रत ग्रहण करते थे, आज उसी पुण्यभूमिमें उन्हींके वंशज लोभ और द्वेष, स्वार्थपरता और परश्रीकातरता, साम्राज्यलिप्सा और भोगवासनाकी प्रेरणासे आत्मविस्मृत होकर जल, स्थल और अन्तरिक्षको भस्मीभूत कर डालनेवाले समरानलमें आत्माहुति देनेके लिये ढेर-के-ढेर चित्र-विचित्र विषपूर्ण मारणास्त्रोंको लेकर इकट्ठे हो रहे हैं। विशाल भारतकी प्रबल क्षात्रशक्ति आसुरी भावोंसे भावित और दम्भ-मोह-मदसे युक्त होकर आज मानो आप ही अपना विनाश करनेको तैयार है। जलमें, स्थलमें, आकाशमें और हवामें जहाँ-तहाँ आग बरसाकर सभी सबको जला डालनेके लिये व्याकुल हैं। मृत्यु देवता बुद्धिपर आरूढ़ होकर सभीको मानो ध्वंसके पथपर ले चले हैं। दूसरेपर मृत्युका प्रहार करने जाकर आज सभी लोग स्वयं उछल-उछलकर मृत्युके कराल गालमें कूदते चले जा रहे हैं। देश, जाति और समाजकी एकता, शान्ति, स्वाधीनता और धर्मानुवर्तिताको अक्षुण्ण और निर्दोष बनाये रखनेके लिये ही भगवान्‌के विधानसे राष्ट्रका उद्भव और क्षात्रशक्तिका अभ्युदय होता है। इसी उद्देश्यसे देशकी ब्राह्मणशक्ति—विज्ञान, दर्शन, धर्म, त्याग और तपस्याकी शक्ति—अपनी साधनाके महान् फलोंको राष्ट्रशक्तिके हाथोंमें सौंपकर क्षात्रशक्तिको अजेय बनाती है। इसी उद्देश्यसे देशकी वैश्यशक्ति भी क्षात्रशक्तिके सामने सिर झुकाकर उसके आदेशके अनुसार चलती है और देशकी अर्थ-सम्पत्तिको उसके हाथोंमें समर्पण करती है। आज उसी उद्देश्यको सम्पूर्णतया व्यर्थ करनेके लिये, मानवजातिकी एकता और शक्तिको नष्ट कर डालनेके लिये, मनुष्यमात्रकी स्वाधीनताको पददलित करनेके लिये और मानव-जीवनसे धर्मको बाहर निकाल फेंकनेके लिये, बल्के घमंडसे चूर मोहग्रस्त क्षत्रिय-वीर राष्ट्रशक्तिका दुरुपयोग करनेमें लगे हैं। राष्ट्रशक्तिके पापलिप्त हो जानेके कारण आज जातिके सैकड़ों टुकड़े हो रहे हैं; समाजमें अत्याचार, अविचार और दुष्ट नीतिका प्रवाह बह रहा है; सङ्घर्ष, प्रतियोगिता और एक दूसरेको गिरानेकी चेष्टामें लगे रहनेके कारण आज मानवजीवनसे आध्यात्मिक आदर्श अन्तर्धान हो गया है, उसका नैतिक बल नष्ट हो चुका है। मानव-जातिकी ब्राह्मणशक्तिने आज आसुरी प्रभावमें पड़कर नित्य नये मारणास्त्रोंके निर्माणमें, अधर्मको धर्मके रूपमें सजाकर सुललित भाषामें उसका अभिनन्दन करनेमें, हिंसा-मन्त्रकी जन-मन-मोहक व्याख्याके प्रचारमें, असुरोंकी असाधारण शक्ति और प्रतिभाकी महिमा गानेमें, एवं मानव-प्राणोंमें विद्वेषकी भयानक आग भड़कानेमें अपनेको लगाकर सनातन आर्यसभ्यताकी जड़ उखाड़नेका मानो व्रत ले लिया है।

भारतके प्राण, विश्वके प्राण, मानवजातिकी अन्तरात्मा मानवजातिपर आसुरीशक्तिके इस आधिपत्यको, मानवमात्रके शरीर-मन-बुद्धिपर अधर्मपरायण राष्ट्रशक्तियोंके इस अत्याचारको, मानवी साधनापर दम्भ, मोह, हिंसा, घृणा, असत्य और अन्यायके इस प्रभुत्वको मानो सहन करनेमें असमर्थ हो गयी है। पृथ्वीदेवी पापके भारसे पीड़ित होकर उससे छुटकारा पानेके लिये विश्वके प्राणपुरुषके शरणागत हो रही है—उसने अपनी अन्तर्निहित धर्ममयी प्राणशक्तिको जगा दिया है। मानवप्राणकी व्याकुल पुकारसे, माँ वसुन्धराकी अनन्य प्रार्थनासे, मानवसमाजको नवीन रूप प्रदान करनेके लिये असुरोंके द्वारा विध्वस्त की हुई लोभ-मोह-मदसे ग्रसित इस पुण्यभूमिमें स्वयं भगवान् अवतीर्ण हुए और उन्होंने भाँति-भाँतिसे विभक्त, दावानलसे जले हुए मरणोन्मुख भारतवर्षको अखण्ड, अमर, नित्य उज्ज्वल, नित्य प्रशान्त महाभारतके रूपमें प्रतिष्ठित करनेके लिये अपनी भगवती शक्तिको नियुक्त किया।

महामति वेदव्यासप्रणीत महाभारत महाकाव्यके महानायक हैं इस महाभारतके प्रतिष्ठाता, विश्वमानव-प्राण-विग्रह स्वयं भगवान् वासुदेव। द्वापरयुगके अन्तमें, कलियुगकी—वर्तमान युगकी सूचनाके समय उन्होंने विशेष उद्देश्यकी सिद्धिके लिये विशेष मूर्ति धारण की थी। भारतकी अखण्डता, भारतीय आत्माकी मुक्ति, भारतीय मानवसमाजके सनातन नैतिक और आध्यात्मिक आदर्शकी विजय और इस सुमहान् समुज्ज्वल आदर्शके आधारपर भारतीय महाजातिका संगठन—यह था उन लीलामयका जीवन-व्रत, उनके समस्त कर्म और सम्पूर्ण चेष्टाओंका लक्ष्य। उन्होंने चाहा था भारतवर्षको महामानवके महामिलनका क्षेत्र बनाकर समस्त जगत्के सामने इस महामिलनका आदर्श उपस्थित करना। आसुरी प्रतियोगिता और प्रतिद्वन्द्विता—वीभत्स संग्राम और कलह, अनार्यजुष्ट हिंसा, घृणा और भय, दुर्बलपर प्रबलका अत्याचार, अवनतके प्रति उन्नतकी अवज्ञा, सरलचित्त अशिक्षित जनसाधारणके प्रति प्रभुत्वकामी कूटबुद्धि शिक्षित सम्प्रदायकी प्रवञ्चना और अखण्ड महाजातिसंगठनके प्रतिकूल सभी प्रकारके दोषोंको सभी प्रकारके नर-नारियोंके साधनक्षेत्र तथा चित्तक्षेत्रसे दूर हटाकर उनकी जगह प्रेम और सहानुभूति, सेवा और सहयोग, यज्ञ और त्याग, साम्य और मैत्री, करुणा और मुदिता तथा धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके समन्वयकी नींवपर महाभारतीय सभ्यताका विशाल प्रासाद निर्माण करनेके लिये उन महामानवने अपनी शक्तिको नियोजित किया था।

इस महाभारतके संगठनके लिये उन्होंने विशाल भारतकी सभी जाति, सभी समाज, सभी सम्प्रदाय और सभी राष्ट्रोंको आग्रहके साथ आमन्त्रित किया था। वे चाहते थे भारतकी समस्त शक्तियोंका मिलन; आर्य और अनार्योंका, परस्पर प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रिय शक्तियोंका, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंका, वेदवादी और वेदविमुख सम्प्रदायोंका, याज्ञिक और तपस्वियोंका, गृहस्थ और संन्यासियोंका, कर्मी, ज्ञानी और भक्तोंका, शैव, शाक्त और वैष्णवोंका, देवपूजकों, सगुणोपासकों और निर्गुण ब्रह्मके जिज्ञासुओंका—सबका प्राणसे प्राण मिलाकर मिलन; राष्ट्रिय, सामाजिक, नैतिक और आध्यात्मिक—सब प्रकारके मतोंका महासम्मेलन। सभी श्रेणियोंके, सभी भावोंके, सभी स्तरोंके मानव सम्मिलित होकर—समस्त भेदोंमें एक अभेदभूमिका आविष्कार करके सारी विषमताओंके भीतर एक महान् साम्यसूत्रका निर्माण करके, एक महामानवताके आदर्शपर सभी अनुप्राणित हों और इस महामानवताके आदर्शपर ही परिवार, समाज, जाति, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदिका संगठन हो—यही था उनका अभिप्राय, यही थी भारतीय प्राणोंकी प्रार्थना और यही थी माँ वसुन्धराकी आकाङ्क्षा।

भारतवर्ष सम्पूर्ण मानवजगत्की आध्यात्मिक केन्द्रभूमि है; इसमें महामिलनका आदर्श सुप्रतिष्ठित हो जानेपर, भारतके कुलधर्म, जातिधर्म, समाजधर्म, साम्प्रदायिक धर्म—भारतीय साधनाके सभी विभाग—इस महामिलनके आदर्शद्वारा सुनियन्त्रित और अनुरञ्जित हो जानेपर पृथ्वीके अन्यान्य देशोंमें यही भावधारा बहने लगेगी; जगत्की प्रत्येक जाति, प्रत्येक समाज और प्रत्येक सम्प्रदाय इसी आदर्शके द्वारा अनुप्राणित हो जायगा; विश्वमानवकी जीवनधारामें एक सुमहान् एकता और कल्याणमयी शान्ति आ विराजेगी—इसी आदर्शको लेकर भारतीय जीवनके एक विकट सङ्कटके समय भारतके और विश्वके प्राणपुरुष मानव-विग्रह धारण करके कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए थे। विश्वमानवकी विविध विचित्रताओंमें एक महामिलन-सूत्रका आविष्कार करनेके लिये एक विशिष्ट मानवके रूपमें मानवात्मा भगवान्ने साधकका स्वाँग ग्रहण किया था। उनके विराट् प्राणकी सूक्ष्म अनुभूति, उनकी विशाल बुद्धिकी महान् कल्पनाशक्ति, उनकी [illegible] कर्मशक्ति और असाधारण तपःशक्ति मानवीय उपायोंद्वारा इस महामिलन-सूत्रका आविष्कार करनेमें लग गयी।

अखिलप्रेमामृतसिन्धु सर्वजीवप्राण श्रीभगवान्के प्रकट विग्रह वासुदेव श्रीकृष्ण स्वभावतः ही प्रेमघनमूर्ति थे। मानवमात्र—जीवमात्रके प्रति उनका निर्मल प्रेम था और पूर्ण सहानुभूति थी। उच्च-नीच, धनी-निर्धन, ज्ञानी-मूर्ख—सभीके प्रति उनकी प्रेमस्निग्ध समदृष्टि थी। युद्धमें उनकी कोई रति नहीं थी, किसीके साथ संघर्ष करनेमें उनको

उल्लास नहीं था । सर्वत्र—समस्त विषयोंमें वे प्रेमके पथसे, शान्तिके पथसे, अहिंसा और सत्यके पथसे, अपौरुषेय वेदवाणी और सुनिपुण विचारकी सहायतासे मनुष्यकी अन्तरात्माको जगाकर विश्वमानवके महामिलनका महान् आदर्श प्रचार करनेमें लगे थे । इस आदर्श प्रचारकार्यमें महाभारतके रचयिता वेदव्याख्याता पराशरनन्दन महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यासको उन्होंने प्रधान आचार्यके रूपमें प्राप्त किया था । विश्वभारतके गुरुस्थानीय, अशेष शास्त्रार्थदर्शी महामनीषी व्यासदेवकी सहायता वासुदेव श्रीकृष्णके लक्ष्यसाधनमें विशेष उपयोगी सिद्ध हुई थी। आचार्य व्यासदेवने अपने शिष्य-प्रशिष्यों-के सहयोगसे भगवान् वासुदेवके आदर्श और भाव-धाराका, जीवन और वाणीका विभिन्न भाषाओंमें, विभिन्न छन्दोंमें, नाना युक्तितर्कोंके द्वारा, प्रामाणिक शास्त्रोंके व्याख्याकौशलके द्वारा आर्य और आर्येतर समाजमें सर्वत्र प्रचार किया था । श्रीकृष्णके द्वारा उपदेश किये हुए सुमहान् आदर्शको केन्द्र बनाकर श्रीकृष्ण और तद्भावभावित कर्मी, ज्ञानी और भक्तोंके जीवनको आधार बनाकर, तदनुकूल शास्त्र, युक्ति और इतिहासका आश्रय लेकर आचार्यप्रवर व्यासदेवने बड़ी ही निपुणताके साथ पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय, नैतिक और आध्यात्मिक—सभी प्रकारकी समस्याओंके सामञ्जस्यपूर्ण समाधानका मार्ग दिखलाया है । इस उद्देश्यसे उन्होंने जिन ग्रन्थोंका निर्माण किया, उनमें महाभारत सर्वश्रेष्ठ है । 'जो नहिं भारतमें सो नहिं भारतमें' अर्थात् भारतीय साधनाके क्षेत्रमें ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं है, ऐसा कोई भी मत और मार्ग नहीं है, ऐसी कोई भी समस्या और समाधान नहीं है, जिसकी महाभारत ग्रन्थमें पूर्ण निपुणताके साथ व्याख्या और आलोचना न हुई हो—इस कहावतमें जरा भी अत्युक्ति नहीं है । वस्तुतः एकमात्र महाभारत ग्रन्थका अच्छी तरह अध्ययन कर लिया जाय तो भारतीय साधनाके समस्त विभागोंका, महाभारत और महामानवके प्राणोंका, वासुदेव श्रीकृष्णके जीवनादर्श और विश्वमानवके महामिलन-सूत्रका पूरा परिचय प्राप्त हो जाता है । पुराणोंमें व्यासदेव और उनके शिष्य-प्रशिष्योंने महाभारतका ही विचित्र व्याख्यान और विस्तार किया है । महाभारतके प्राणस्थानीय श्रीकृष्णोपदिष्ट श्रीमद्भगवद्गीताके प्रकाशसे ही व्यासदेवने उपनिषदों—अपौरुषेय श्रुतिवाक्योंकी व्याख्या और उनका समन्वय करके ब्रह्मसूत्र या वेदान्त-विज्ञानकी रचना की है । इन सबके अंदर ही उन्होंने श्रीकृष्णके जीवन, कर्मादर्श, भावादर्श और दार्शनिक सिद्धान्तको चिरस्थायी रूप प्रदान किया है । श्रीकृष्णके द्वारा प्रचारित आदर्शको ही व्यासदेवने सनातन आर्यसाधनाका यथार्थ तात्पर्य बतलाकर प्राचीन शास्त्रोंकी व्याख्या और नये शास्त्रोंका निर्माण किया है । पाराशर कृष्णका इस प्रकार सर्वाङ्गीण समर्थन सर्वजनमान्य अपौरुषेय वेदके समर्थनरूपसे वासुदेव श्रीकृष्णके जीवनव्रतको सार्थक करनेमें विशेष सहायक हुआ था ।

आदर्शका प्रचार, सुशिक्षाकी व्यवस्था, जाति और समाजके श्रेष्ठतम मनीषियोंका समर्थन, पुरानेको स्वाभाविक नियमोंके द्वारा नयी धारामें प्रवाहित करनेका कौशल—नवीन आदर्शको देशभरमें सुप्रतिष्ठित करनेके प्रधान उपाय यही हैं । इस प्रकारकी गठनमूलक पद्धतिसे जीवनीशक्तिके सम्यक् विकासमें बाधा देनेवाले सारे कुसंस्कार मिट जाते हैं, प्रतिकूल शक्तियाँ रास्ता छोड़कर अलग खड़ी हो जाती हैं, जाति और समाज मानो कुछ-कुछ अनजानमें ही सभ्यता और संस्कृतिके उच्चतर सोपानपर चढ़ जाते हैं । श्रीकृष्णने अपने विराट् महान् समुदार सार्वभौम आदर्शकी स्थापनाके लिये प्रधानतः इसी प्रकारकी गठनमूलक पद्धतिको अपनाया था । विश्वमानव और विश्वप्रकृतिकी परम ऐक्यभूमि सच्चित्प्रेमानन्दघन भगवान्को मानवजीवनका केन्द्र बनाकर, मानवजीवनको भागवतजीवनमें बदल देनेके चरम आदर्शको वास्तविक रूपसे सबके अंदर जगाकर, मनुष्यमात्रके पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रिय, आर्थिक जीवनको—जीवनके सभी विभागोंको भगवत्-केन्द्रिक और भगवत्-सेवामय बनाकर, मानवीय जीवन-साधनाकी सारी धाराओंको एक ही पारमार्थिक लक्ष्यकी ओर बहाकर, मनुष्यके प्रति मनुष्यके सब तरहके हिंसा, घृणा, भय, द्वेष और वैर-भावके सम्बन्धको एक सुन्दर भ्रातृभावके सम्बन्धमें विलीनकर विश्वके प्रत्येक मानवके प्राण-प्राणमें एकता उत्पन्न कर देना, प्राणीमात्रको एक अच्छेद्य प्रेमके सूत्रमें ग्रथित कर देना, सम्पूर्ण जगत्में एक सत्य-प्रेम-पवित्रताके राज्यकी प्रतिष्ठा करना—यही था श्रीकृष्णके अपने जीवनसाधनका लक्ष्य; और सहज-से-सहज तथा सुन्दर-से-सुन्दर उपायोंद्वारा इस लक्ष्यको सिद्ध करना, इसी ओर थी उनकी दृष्टि । भारतमें सम्यक् ऐक्यकी स्थापनाके द्वारा विश्वमें ऐक्य-प्रतिष्ठाका पथ प्रस्तुत करना ही उनका आन्तरिक अभिप्राय था । इसके लिये उन्होंने नाना प्रकारके संगठनमूलक उपायोंका ही अवलम्बन किया था, शान्तिके मार्गका ही अनुसन्धान किया था, यथासम्भव प्रेम-मैत्री, सुपरामर्श, सुशिक्षा, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रिय सौहार्द-स्थापनकी ही चेष्टा उन्होंने सर्वत्र की थी । व्यासदेवने महाभारतमें इन सबका वर्णन किया है । श्रीकृष्णकी मानवीय साधनाओंको केन्द्र बनाकर ही महाभारतकी रचना की गयी है ।

परन्तु श्रीकृष्णकी यह सामनीति सर्वत्र सफल नहीं हो सकी । (यह भी उन्हींकी लीला थी ।) अहिंसा, प्रेम और

शान्तिके मार्गसे समग्र भारतमें ऐक्यकी प्रतिष्ठा और एक अखण्ड धर्मराज्यकी स्थापनामें प्रबल विघ्न था भारतकी सामरिक शक्ति और असुरबलगर्वित राज्य-सुख-भोगके प्यासे राजाओंकी क्षुद्र स्वार्थबुद्धि। देशके टुकड़े-टुकड़े करके जो लोग विभिन्न प्रदेशोंकी राष्ट्रशक्तिपर अधिकार जमाये बैठे थे, उनमेंसे बहुत-से ऐसे थे, जो सम्पूर्ण देशके नैतिक, आध्यात्मिक और आर्थिक कल्याणकी अपेक्षा अपनी प्रभुत्वरक्षा और ऐश्वर्यवृद्धिके लिये ही अत्यधिक उत्सुक थे। भारतीय महाजातिके सभी अङ्ग-प्रत्यङ्गोंमें प्रेमपूर्ण ऐक्य-स्थापनके लिये चेष्टा न करके वे अपनी सामरिक और आर्थिक शक्तिको केवल अपनी प्रधानताकी प्रतिष्ठामें ही लगाते थे। समरकुशल एक महान् सेनाका सङ्गठन करके दिग्विजयके लिये निकलना और दूसरोंके धनको लूटना उन पराक्रमी वीरोंका आदर्श था और इसीके द्वारा उनके नाम, यश और मर्यादाकी भी वृद्धि होती थी। अपने ऐश्वर्य और प्रभुत्वके विस्तारके लिये वे न्याय और धर्मका त्याग करनेमें गौरव समझते थे। इन राज्यलोलुप अर्थलोभी असुरभावापन्न राजाओंका आश्रय पाकर ही जगत्में अधर्मका अभ्युत्थान और धर्मकी ग्लानि हुआ करती है।

श्रीकृष्णके प्रेमधर्मकी वाणी, उनका ऐक्य और साम्यका आदर्श, उनकी अखण्ड महाभारत-प्रतिष्ठाकी कल्पना, उनका आध्यात्मिक नींवपर राष्ट्र और समाजके प्रासाद-निर्माणका सङ्कल्प इन आसुरभावापन्न परस्पर प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र-नियन्ताओंको अच्छा नहीं लगा। वे इसे आदरके साथ अपनानेको राजी नहीं हुए। श्रीकृष्णका आदर्श और समाजके समस्त स्तरोंमें उसका प्रचार उनकी स्वार्थदृष्टिमें नितान्त ही विप्लवात्मक था। उनकी धारणा हो गयी कि श्रीकृष्ण हमें हमारी शक्ति और कूटबुद्धिके द्वारा प्राप्त किये हुए ऐश्वर्य, प्रभुत्व, मान-सम्मान और निग्रहानुग्रहके सामर्थ्यसे वञ्चित करके एक विराट् आदर्शके बहाने सारे देशमें अपना प्रभुत्व फैलाना चाहते हैं। इसलिये वे पहलेसे ही श्रीकृष्णके प्रभावको घटाकर, श्रीकृष्णके आदर्शको देशसे निकाल फेंकनेके लिये कमर कसकर तैयार हो गये। उनकी इन कुचेष्टाओंसे श्रीकृष्णका प्रभाव घटा नहीं, वरं अधिकाधिक बढ़ता गया; और ज्यों-ज्यों वह बढ़ता गया और दल-के-दल लोग उनके अनुगत होकर उनके आदर्शको अपनाने लगे, त्यों-ही-त्यों असुरस्वभाव राजाओंमें भी उनकी शत्रु-संख्या बढ़ने लगी। कुछ वेदवादरत, परन्तु वेदके मर्मसे अनभिज्ञ, स्वार्थलोलुप ब्राह्मण भी असुरस्वभाव राजाओंके पक्षमें होकर श्रीकृष्णके सार्वभौम धर्मके आदर्शको, सुमहान् ऐक्यके आदर्शको, सर्वजीवोंके प्रति प्रेमके आदर्शको और भगवत्-सेवामय जीवनके आदर्शको वेदविरुद्ध और सनातनधर्मसे विपरीत बतलाने लगे। देशमें जो लोग सताये हुए, गिराये हुए, पददलित किये हुए और मान-मर्यादाको खोये हुए थे, वे श्रीकृष्णको परित्राण कर्ता कहकर, पतितपावन मानकर उनकी पूजा करने लगे और जो सतानेवाले थे, ऊँचे पदोंपर स्थित—प्रभाव-प्रतिपत्तिवाले लोग थे, उनमेंसे बहुत-से श्रीकृष्णके द्वेषी होकर उनसे डरने और उनके विरुद्ध आचरण करने लगे।

मानव-समाजमें धर्म, प्रेम, शान्ति और एकताके झंडेको नित्य नूतन और ऊँचा बनाये रखनेके लिये ही क्षात्रशक्तिकी आवश्यकता है। क्षत्रिय राजाओंकी प्रधानता और संग्राम-शक्तिकी रक्षाके लिये ही धर्मके आदर्शको छोड़ देना, ऐक्य-स्थापनके सङ्कल्पको त्याग देना एवं प्रेम और साम्यके प्रचारसे अलग हो जाना तो महान् कापुरुषता है—मनुष्यत्वका अपमान है। वासुदेव श्रीकृष्ण प्रेमघनमूर्ति होनेपर भी इस कापुरुषता-को वरण करना पसंद नहीं करते थे। विरोधी प्रबल शक्तियोंके भयसे या उनके साथ सङ्घर्षकी आशङ्कासे वे आदर्शका त्याग करनेके लिये तैयार नहीं थे। उन्होंने जब यह अनुभव किया कि उनके आदर्श-प्रतिष्ठाके पथमें बहुत-से काँटे देश और समाजके साधनक्षेत्रमें अपनी दृढ़ जड़ जमाये फैले हैं, जिनको जड़से उखाड़े बिना लक्ष्यकी सिद्धि नहीं होगी, धर्मराज्यकी स्थापना नहीं होगी, प्रेम और ऐक्यका सर्वत्र प्रचार नहीं किया जा सकेगा, तब उन्होंने सचमुच ही अपनी विप्लव-मूर्ति प्रकट कर दी और अवस्थाके अनुसार क्षात्रभाव तथा दण्डनीतिका अवलम्बन करके वे दुर्वृत्तोंके दमनमें प्रवृत्त हो गये।

मूर्तिमान् प्रेमको आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिये योद्धाका स्वाँग धारण करना पड़ा। अहिंसा और सत्यकी प्रतिष्ठाके लिये उन्हें हिंसा और असत्यके विरुद्ध प्रबल पराक्रमके साथ खड़ा होना पड़ा। न्याय और धर्मकी मर्यादा स्थापन करनेके लिये उनको अन्याय और अधर्मके नाशके हेतु तलवार चलानी पड़ी। दुर्बलों और निरीहोंको बलवानोंके पंजेसे छुड़ानेके लिये उन्हें प्रयोजनानुरूप क्षात्रबलका प्रयोग करना पड़ा। जाति और समाजमें जब अप्रेम और अधर्मका, हिंसा और कलह-विभेद और विषमताका निर्बाध आधिपत्य फैल जाता है, तब प्रेम और धर्मके अवतारको, अहिंसा और शान्तिके मूर्त विग्रहको अभेद और साम्यके स्वरूपको भी कहीं-कहीं कठोरताका अवलम्बन करना पड़ता है—प्रेमघनमूर्ति सच्चिदानन्दविग्रह वासुदेव श्रीकृष्णका क्षात्रभावान्वित कर्ममय जीवन इसके लिये एक परम उत्कृष्ट दृष्टान्त है। महाभारत, हरिवंश और पुराणादिमें श्रीकृष्णके जीवनसे इस सम्बन्धकी अनेकों घटनाओंका वर्णन किया गया है। श्रीकृष्णकी

जीवोंके प्रति प्रीति, करुणा, सहानुभूति और समदृष्टि थी। उनका महान् ऐक्यका आदर्श था और अखण्ड महाभारत-प्रतिष्ठाका अटूट संकल्प था। इसीलिये उनको बहुत-से प्रबल पराक्रान्त असुर-दैत्य-दानवोंके साथ युद्ध करना पड़ा, अनेकों स्वार्थोद्धत मदोन्मत्त सम्राट् उनके शत्रु बने और अनेकों धनी-मानी पण्डितोंके लिये उन्हें भयका स्थान बनना पड़ा। भारतीय सभ्यताको महामानवताकी सुदृढ़ भूमिपर सुप्रतिष्ठित करनेके मार्गमें वे किसी भी विप्लवका सामना करनेके लिये बिना सङ्कोचके तैयार थे। उन्होंने स्वार्थसे अंधी और घमंडसे चूर सब प्रकारकी विद्रोही शक्तियोंको ध्वंस करनेका निश्चय कर लिया था; आवश्यकता होनेपर सब तरहके मित्र-द्रोह, जातिद्रोह, लोकक्षय और करुणक्रन्दनके अंदरसे होकर भी जाति और समाजको आदर्शकी ओर ले जानेमें उनका हृदय नहीं काँपता था; उनके प्रेमार्द्र चित्तमें शोक, ताप, भय, चिन्ता और खेद कभी उत्पन्न ही नहीं होते थे। महा-मानवताके नित्य सत्य विराट् आदर्शकी सुस्थापनाके लिये अपने प्रिय-से-प्रिय असंख्य मनुष्योंके अनित्य क्षणभङ्गुर शरीरोंकी बलि देनेमें भी उनका विशाल हृदय जरा भी संकुचित नहीं होता था। आदर्शकी प्रतिष्ठाके लिये आवश्यक होनेपर वे 'महद्भयं वज्रमुद्यतम्' रूपमें अपनेको प्रकट करते थे।

बहुत-से भागोंमें बँटे हुए भारतको एक महाभारतके रूपमें परिणत करनेके लिये, आर्य और अनार्य, ब्राह्मण और म्लेच्छ, प्रबल और दुर्बल, ज्ञानी और अज्ञानी—सभीके हृदयोंमें एक अद्वितीय सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् सर्वगुणसम्पन्न निखिलरसामृतसिन्धु अनन्तप्रेमाधार सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारी भगवान्को प्रतिष्ठित करनेके लिये, सभी लोगोंके साधनजीवन और व्यावहारिक कर्मजीवनको एक विश्वजनीन विश्वमानवताके आदर्शके द्वारा अनुप्राणित करनेके लिये, एक भक्तिमूलक भागवत-योगधर्मके द्वारा सभी श्रेणियोंके, सभी सम्प्रदायोंके और सभी स्तरोंके नर-नारियोंके सब प्रकारके धर्ममत और साधनप्रणालियोंका समन्वय करनेके लिये महामानव श्री-कृष्णने अपनी अनन्य-साधारण संगठन-शक्ति और अनन्य-साधारण क्षात्रवीर्यका समभावसे प्रयोग किया। उनके संगठन-कार्यमें पाराशर-कृष्ण व्यासदेवने जैसे अपनी असामान्य ज्ञानशक्तिके द्वारा सहायता की, वैसे ही उनके मार्गके काँटोंको उखाड़ फेंकनेके कार्यमें उनके एकान्त अनुगत महावीर पाण्डवोंने—विशेषतः पाण्डव-कृष्ण अर्जुनने—उनका बड़ा हाथ बँटाया। भारतके इतिहासमें ययातिपुत्र त्यागवीर पूरु और उनके वंशधरोंका एक प्रधान स्थान था। पूरुकी पितृभक्ति और आत्मबलिदानपर इस वंशकी मर्यादा प्रतिष्ठित थी। भारतमें आर्यसभ्यताके विस्तारकार्यमें अपने तेज, वीर्य और धर्मज्ञानका परिचय देकर उन्होंने क्षात्रसमाजके केन्द्र-स्थानपर अधिकार प्राप्त कर लिया था। असाधारण महा-पुरुषोंने इस वंशमें जन्म ले-लेकर आर्य-संस्कृतिकी उन्नति और अनार्य शक्तिका दमन करके भारतके प्राचीन इतिहासको अलङ्कृत किया था। इस इतिहासप्रसिद्ध पूरुवंशके उपर्युक्त वंशज पाण्डवोंने श्रीकृष्णका आनुगत्य स्वीकार करके और श्रीकृष्णके आदर्शकी स्थापनाके लिये अपनी सारी शक्ति लगाकर श्रीकृष्णके मार्गको बहुत कुछ सुगम और निष्कण्टक बना दिया था। व्यासके ज्ञान और अर्जुनकी शूरताने श्रीकृष्णके मस्तिष्क और भुजाका कार्य किया था।

प्रथितकीर्ति पूरुवंशकी एक शाखाके नेता थे प्रबल पराक्रमी आत्म-गर्वित और दुरभिसन्धिसे प्रेरित दुर्योधन। इन दुर्योधनको केन्द्र बनाकर जब श्रीकृष्णके आदर्शस्थापनके विरोधी पक्षने अपना संगठन आरम्भ किया, तब इसी वंशकी दूसरी शाखाके धर्मवीर पाण्डवोंकी प्रभाववृद्धि और अधिकार-प्रतिष्ठा श्रीकृष्णके आदर्श-प्रचारके लिये अत्यन्त आवश्यक हो गयी। धर्मके लिये, मानवोचित जीवनादर्शके लिये, जाति और समाजके ऐक्य, शान्ति और सर्वाङ्गीण कल्याणके लिये सब प्रकारका क्लेश-सहन और त्याग करनेको पाण्डव सदा ही प्रस्तुत थे। उन्होंने श्रीकृष्णको अपने जीवनके सभी विभागोंमें नेतारूपसे वरण कर लिया था और वे श्रीकृष्णके जीवनव्रतको सफल बनानेके लिये अपने जीवनतकका उत्सर्ग करनेको उत्सुक थे। महाभारतके संगठनके लिये सूक्ष्मदर्शी श्रीकृष्णने केन्द्रीय राष्ट्रशक्तिको धर्मराज युधिष्ठिरके द्वारा परिचालित न्यायदण्डधारी अमितपराक्रमी पाण्डवोंके हाथोंमें सौंपना आवश्यक समझा था।

न्याय और धर्मकी दृष्टिसे पाण्डव ही कौरव-राज्यके उत्तराधिकारी थे और अपने चरित्रमाधुर्य तथा क्षात्रोचित गुणगरिमासे भी उन्होंने सबके हृदयोंपर अधिकार कर लिया था। इतनेपर भी लड़कपनसे ही उनका दण्ड, यातना और क्लेशकी गोदमें ही लालन-पालन हुआ था। दुर्योधन और उनके कूटबुद्धि बन्धु-बान्धवोंके षड्यन्त्रके कारण वे शैशवसे ही नाना प्रकारके अत्याचारोंसे पीडित और दुःख-कष्टसे जर्जरित थे। जीवनके प्रत्येक विभागमें धर्म, प्रेम, क्षमा और सहिष्णुताके आदर्शको अक्षुण्ण बनाये रखना उनका व्रत था; इसीसे उन्होंने प्रतीकारकी शक्ति रखते हुए भी सब तरहके अत्याचार-अविचार और निर्यातनको प्रसन्न चित्तसे सहन किया था। इस प्रकारकी तपस्याके द्वारा ही उन्होंने लोकसमाजमें श्रीकृष्णके महान् आदर्शकी पताका फहरानेकी योग्यता प्राप्त की थी। स्वयं भाँति-भाँतिके निग्रह, निर्यातन और लाञ्छना

सहकर जाति और समाजके सभी निगृहीत, पीडित, लाञ्छित और पददलित जनसाधारणके प्रतिनिधिरूपमें उन्होंने न्याय और धर्मकी प्रतिष्ठा और सब लोगोंके कल्याणके लिये संग्राम करके प्रतिकूल शक्तियोंके विनाशका नैतिक अधिकार प्राप्त कर लिया था। भारतके विभिन्न प्रदेशोंमें जो राजा और क्षत्रियवीर पाण्डवोंके गुणोंपर मुग्ध थे, न्याय और धर्मके पक्षपाती थे और श्रीकृष्णके महान् आदर्शके प्रेमी थे, वे प्रेम और सहानुभूतिके साथ अपनी सारी शक्तिको लेकर उनके साथ आ मिले।

भारतकी राष्ट्रशक्तियाँ कार्यतः दो भागोंमें विभक्त हो परस्पर प्रतिद्वन्द्वी बनकर सुसज्जित हो गयीं। एक भाग था न्यायके पक्षमें और दूसरा था बुनियादी स्वार्थका पक्षपाती; एक भाग सताये हुए नर-नारियोंका पक्ष करता था, तो दूसरा सतानेवालोंके पक्षमें था; एक ऐक्य और मिलनका पक्षपाती था, तो दूसरा भेद और विरोधका; और एक भाग श्रीकृष्णके महाराष्ट्र, महासमाज, महाधर्म और महाभारत-संगठनका पक्ष करता था तो दूसरा उस नवीन आदर्शके पक्षमें बाधा खड़ी करनेके पक्षमें था। श्रीकृष्णने अपने वंशजोंमें वीर्य-शौर्य जगाकर और उन्हें वीरोचित शिक्षा-दीक्षा देकर दुर्धर्ष क्षात्रशक्तिका सृजन किया। देशके लब्धप्रतिष्ठ क्षत्रिय राजालोग जिनको जरा भी नहीं मानते थे, जिनको किसी प्रकारका उच्चाधिकार और उन्नत शिक्षा-दीक्षा नहीं देते थे, उन्हीं सब अनादृत—अवज्ञात लोगोंको अपने झंडेके नीचे इकट्ठा करके, उन्हें समुन्नत धर्मज्ञान और वीरोचित शिक्षा-दीक्षा प्रदानकर श्रीकृष्णने एक विराट् नारायणी सेनाका संगठन किया। इन सब शक्तियोंका उचितरूपसे संचालन करके महानायक श्रीकृष्ण अपने महाभारत-संगठनकी विरोधी शक्तियोंको प्रयोजनानुसार कठोरताके साथ कुचल डालनेको तैयार हो गये। अर्जुन और भीमकी सामरिक शक्तिसे सहायता लेकर भी उन्होंने कई काँटे उखाड़े। यह शत्रुदमन-कार्य—परिकल्पित धर्मराज्यकी स्थापनाके विघ्नोंके नाशका कार्य—वे ऐसे कौशलके साथ करते कि जिसमें निरीह प्रजाकी स्वच्छ जीवनधारामें जरा भी क्षोभ और अशान्तिका उदय नहीं होता।

आसुरी शक्तिके उत्पीड़नसे मानवात्माको छुटकारा दिलानेके लिये, आसुरी मनोवृत्तिके प्रभावसे मनुष्यकी चिन्ताधारा और कर्मधाराको मुक्त करके उसे धर्मप्रेम और मोक्षके मार्गपर बहानेके लिये, भारतीय सभ्यताको आसुरी आदर्शके आधिपत्यसे छुड़ाकर विश्वमानवताका आदर्श प्रतिष्ठित करनेके लिये भारतके प्राणपुरुष प्रेमघनविग्रह वासुदेव श्रीकृष्णका आदर्शप्रचार और कण्टकोद्धार तथा संगठनलीला और ध्वंसलीला—दोनों एक ही साथ चलने लगे। साधुओंके परित्राण और प्रभाववृद्धि तथा दुष्टोंके पराभव और प्रभावनाशके लिये वे अपनी प्रेमशक्ति और संग्रामशक्ति दोनोंका ही समान व्यवहार करने लगे। ऐक्य और प्रेमकी वाणी, साम्य और सर्वजनीन स्वाधीनताकी वाणी, सत्य और अहिंसाकी वाणी, उदारता और विश्वमानवताकी वाणी असुरभावसे प्रभावित मानवसमाजमें सदा ही विप्लवकी वाणीके रूपमें प्रकट हुआ करती है। बुनियादी स्वार्थ, सुप्रतिष्ठित अन्यायमूलक प्रभुत्व, सङ्घबद्ध असत्य और हिंसा एवं मानप्राप्त दम्भ और परस्वापहरणके विरुद्ध विद्रोहकी घोषणा करके ही यथार्थ धर्मकी वाणी—विश्वमानवके महामिलनकी वाणी मानवजगत्में प्रकट हुआ करती है। अतएव श्रीकृष्ण भी महाविप्लवकी वाणी लेकर ही संसारके कर्मक्षेत्रमें अवतीर्ण हुए थे। श्रीकृष्णकी वाणीका जितना ही प्रचार होने लगा, उनका संगठनकार्य जितना ही अग्रसर होने लगा, सङ्घर्षके कारण भी उतने ही बढ़ने लगे। आसुरी शक्तियाँ उनको और उनके आदर्शको मटियामेट करनेके लिये सङ्घबद्ध होने लगीं, विप्लवका दावानल अधिक-से-अधिक जल उठा। देहराज्यमें विप्लव हुए बिना प्राणोंकी आत्मप्रतिष्ठा नहीं होती; असुर-राज्यमें विप्लवके बिना दैवादर्शकी आत्मप्रतिष्ठा नहीं हो सकती; और काम, क्रोध, लोभके राज्यमें विप्लवके बिना भगवान् प्रकट नहीं होते। भारतके और विश्वमानवके प्राणपुरुष भगवान् श्रीकृष्ण इस देशव्यापी विप्लवके लिये प्रस्तुत थे। धर्मकी ग्लानि और अधर्मका प्रादुर्भाव कितना अधिक हो चुका था, इस विप्लवकी व्यापकता और वीभत्सता ही उसका निदर्शन है।

साम, दान, भेद और दण्ड—सभी नीतियोंको अपनाकर व्यासार्जुनकी सहायतासे श्रीकृष्णने अनेकों विरोधी शक्तियोंका दमन किया था, बहुत-से शत्रुओंको मित्र बना लिया था, अनेकों प्रतिकूलाचारी ब्राह्मण, क्षत्रिय और अनार्य वीरोंको अपने आदर्शका प्रेमी बनानेमें सफलता प्राप्त की थी। अनेकों परस्पर प्रतिद्वन्द्वी राजशक्तियोंको विवाहसूत्रमें बाँधकर सामाजिक मैत्रीकी स्थापना की थी। उन्होंने स्वयं भी आर्य, अनार्य, मित्र और शत्रु अनेक वंशोंमें विवाह करके सबमें प्रेमकी प्रतिष्ठा की थी। परंतु इससे उनके संग्रामकी आवश्यकता दूर नहीं हुई। वे ध्वंसलीलाको अपनी कर्मपद्धतिसे अलग नहीं कर पाये।

अन्तमें देशव्यापी विप्लव घनीभूत होकर महाभारतीय महासमरके रूपमें प्रकट हुआ। धार्तराष्ट्र और पाण्डवोंके साम्राज्याधिकारका विवाद तो एक निमित्तमात्र था। श्रीकृष्णके महान् आदर्शकी विरोधी शक्तियाँ, बुनियादी स्वार्थकी पक्षपातिनी राष्ट्रशक्तियाँ दुर्योधनको केन्द्र बनाकर आत्मरक्षाके

लिये इकट्ठी हो गयीं। इधर श्रीकृष्णके आदर्शकी अनुरागिणी शक्तियाँ श्रीकृष्णके द्वारा संचालित पाण्डवोंके पक्षमें सम्मिलित हो गयीं। इस महासमरको अनिवार्य जानकर भी श्रीकृष्णने इसके निवारणके लिये लौकिक साम-उपायसे यथासाध्य चेष्टा की। श्रीकृष्णकी सलाहसे युद्धको बचानेके लिये धर्मराज युधिष्ठिरने दुर्योधनसे पाँचों भाइयोंके लिये केवल पाँच गाँव लेकर ही संतुष्ट होना स्वीकार किया। स्वयं श्रीकृष्ण दूत बनकर शान्तिस्थापनका प्रयत्न करने पधारे। बाल्यावस्थासे लेकर अबतक दुर्योधन और उनके पक्षवालोंने पाण्डवोंपर जो अत्याचार किये थे, उन सभीको क्षमा करनेके लिये तैयार होकर श्रीकृष्णाश्रित पाण्डवोंने महा-मानवताका आदर्श उपस्थित किया। भीमको विष देकर मार डालनेकी चेष्टा, कुन्तीसमेत पाँचों पाण्डवोंको लाक्षागृहमें जला डालनेके षड्यन्त्र, कपट-जूएमें धन-मान-राज्यसुखका अपहरण—यहाँतक कि राजदरबारमें असंख्य राजाओंके सामने राज-कुल-वधू एक-वस्त्रा वीराङ्गना द्रौपदीके केश खींचकर उसे नग्न करनेकी पापपूर्ण चेष्टा—इन सभी अत्याचारोंको देशमें एकता, शान्ति और प्रेमकी प्रतिष्ठाके लिये श्रीकृष्णानुगामी महावीर पाण्डव भुला देनेको राजी हो गये।

परंतु संधिस्थापनके सभी प्रयास व्यर्थ हुए। देशकी नैतिक, राष्ट्रिक और सामाजिक परिस्थिति जब महासमरके उपयुक्त हो उठती है, तब उसे कोई भी निवारण नहीं कर सकता। जबतक यह स्वार्थपरायण दाम्भिक आसुरभावापन्न क्षात्रशक्ति ध्वंस नहीं हो जाती तबतक एकता, शान्ति और प्रेमका आदर्श भगवद्भक्तिपूत विश्वमानवताका आदर्श मानवसमाजमें सुप्रतिष्ठित नहीं हो सकता—मानवात्माकी मुक्ति नहीं हो सकती। कालप्रभाव और भगवान्‌के विधानसे जब आसुरी प्रभावसे मानवात्माकी मुक्तिका समय आता है, तब आसुरी शक्तिका नाश करनेके लिये महासमर अनिवार्यरूपसे सम्पन्न होता है। लीलामय श्रीकृष्णने इसी नियमको लेकर मानो युद्धके लिये सम्मति प्रदान की थी। इस महासमरमें परस्पर प्रतिद्वन्द्वी किसी पक्षविशेषका जय-पराजय उनका लक्ष्य नहीं था। एक असुरसङ्घको पराजित और निगृहीत करके दूसरा एक असुरसङ्घ मर्यादा और प्रभुत्वके आसनपर आरूढ़ हो—यह उनकी इच्छा नहीं थी। वे चाहते हैं मानवात्माकी नैतिक और आध्यात्मिक मुक्ति; वे चाहते हैं मानव-समाजमें अधर्मका पराभव और धर्मका अभ्युदय; वे चाहते हैं मानवजातिमें सप्रेम ऐक्यप्रतिष्ठा—साम्य, मैत्री, पवित्रता और आनन्दकी प्रतिष्ठा; और वे चाहते हैं विश्व-जगत्‌में सत्य-शिव-सुन्दरकी सुस्थापना। मानव-प्राणकी यही चाह है। इस आदर्शकी विजय ही उनको अभिप्रेत है। इस आदर्शकी विजय ही मानव-प्राणोंमें स्वाराज्यकी प्रतिष्ठा—भारतप्राणोंमें आत्मप्रतिष्ठा होगी। इस सुमहान् सुमङ्गल आदर्शके विजय-ध्वजको गहरा गाड़नेके लिये ही श्रीकृष्ण विप्लव-तरङ्गमें कूदे थे और भारतकी क्षात्रशक्तिका ध्वंस करनेवाले महासमरका समर्थन करके उन्होंने उसमें योग-दान किया था।

दो दलोंमें बँटी हुई भारतीय राष्ट्रशक्तियाँ एक दूसरेका ध्वंस करनेके लिये सब प्रकारके मारणास्त्रोंसे सुसज्जित होकर तैयार हो गयीं। देशकी शान्तिप्रिय निरीह जनता महासमरकी विभीषिका और अशान्तिकी ज्वालासे बची रहे और आसुर-भावापन्न राजालोग परस्पर अपना ध्वंस कर सकें, इसके लिये युद्धको एक स्थानविशेषमें मर्यादित करके सीमाबद्ध कर दिया गया। कुरुक्षेत्रकी विशाल भूमिमें वे एक दूसरेका मुकाबला करनेके लिये आ डटे। यथासम्भव कम-से-कम समयमें ही महासमरको समाप्त कर देनेकी श्रीकृष्णने बड़े कौशलसे व्यवस्था की। उन्होंने स्वयं इस महासमरके महानायक होनेपर भी किसी पक्षमें अस्त्र धारण न करके अपनी निरपेक्षता प्रकट की; परंतु अर्जुनके सारथि बनकर उनके पक्षमें अपने नैतिक समर्थनकी घोषणा कर दी। दूसरी ओर, अर्जुनके विपक्षमें दुर्योधनको अपनी नारायणी सेना प्रदान करके वस्तुतः अर्जुनके अस्त्रोंसे अपनी सामरिक शक्तिका नाश करनेकी भी व्यवस्था कर दी।

अठारह दिनोंके युद्धमें भारतकी आत्मविस्मृत आसुर-भावापन्न क्षात्रशक्ति प्रायः निर्मूल हो गयी। बचे श्रीकृष्णके विशेष अनुग्रहपात्र, उनकी पताकाका वहन करनेवाले पाँच पाण्डव। और बचे—स्त्री, बालक तथा वृद्ध, जो युद्धमें सम्मिलित ही नहीं हुए थे। प्रायः निःक्षत्रिय भारतवर्षमें उन्होंने धर्मराज युधिष्ठिरको राजचक्रवर्ती-पदपर प्रतिष्ठित किया। क्षात्रशक्तिके या आसुरी शक्तिके श्मशानपर श्रीकृष्णके आदर्शकी प्रतिष्ठा हुई। अखण्ड महाभारतकी नींव पड़ी और नवयुगकी सूचना हुई। व्यासके शिष्यगण महाभारतके नैतिक और आध्यात्मिक सङ्गठनमें लगे रहे। महाभारतके महानायककी यह अनोखी लीला है!

महाभारतपर स्वर्गीय विद्वान् श्रीचिन्तामणि राव वैद्यके कुछ विचार

महाभारत एक महाकाव्य

'वस्तुतः 'महाभारत' शब्दसे ही मनमें विशाल तथा अत्यन्त वैविध्यसे युक्त किसी वस्तुकी भावना आ उपस्थित होती है; परंतु काव्यत्वके दृष्टिकोणसे महाभारतमें विषयोंकी विशालता और विविधताका भान बहुत कम लोगोंको होता है। काव्यरचनाके अनुकूल प्रसङ्ग महाभारतमें इतने क्रमबद्ध तथा वैविध्यसे भरपूर हैं कि अर्वाचीन संस्कृत कवियोंने जिस किसी रसमय प्रसङ्गका वर्णन किया है; उन सबका बीज महाभारतमें मिले बिना नहीं रह सकता। सूतजी स्वयं अपने ग्रन्थके प्रारम्भमें अभिमानपूर्वक कहते हैं—'एक विशाल वटवृक्षके समान महाभारत सभी अर्वाचीन कवियोंके लिये आश्रय-स्थान है। इस अमरस्रोतसे अनेक कवियोंने सुधा-रसका पान किया है तथा नयी चेतना प्राप्त की है।'

'महाभारतके पृथक्-पृथक् तथा विविधतासे भरे प्रसङ्ग एक ही वार्ताके रूपमें इस प्रकार सुन्दरतासे ग्रंथित हुए हैं कि इससे अधिक भव्य और सुयोजित कथानककी कल्पना करना शक्य नहीं है। अनेकों बार मेरे मनमें ऐसा आया है कि महाभारतकी कथा यदि ऐतिहासिक नहीं भी है तो भी इसकी रूप-रेखा जिस कथासे उत्पन्न हुई है उसकी कल्पना शेक्सपियरकी कल्पनाकी अपेक्षा भी अधिक समृद्ध होनी चाहिये। पात्रोंकी विविधता और स्वाभाविकता जितनी शेक्सपियरके नाटकोंमें देखनेमें आती है, उतनी ही महाभारतमें भी दीख पड़ती है; परंतु आश्चर्यकी बात यह है कि महाभारतमें एक ही कथानकके भीतर इतने अधिक पात्रोंका एकत्र समावेश हो जाता है! शेक्सपियरने अनेकों नाटकोंकी रचना करके जो दिखलाया है, उसे व्यासजीने एक विशाल कथानकके द्वारा प्रदर्शित कर दिया है। कथानकके अङ्ग विशाल होनेपर भी गजराजके अवयवके समान उनकी योजना एक सुबद्ध और सुन्दर शरीरमें हो जाती है।'

'यह तो जानी हुई बात है कि महाभारतके कुछ प्रसङ्गोंके आधारपर परवर्ती संस्कृत कवियोंने महाकाव्यों तथा नाटकोंके लिये अनुकूल विषयोंका चयन किया है। यह भी जानी बात है कि वर्तमान कथाकार इस विशाल ग्रन्थमेंसे कुछ फुटकर प्रसङ्गोंको लेकर उनके द्वारा घंटों-घंटों चलनेवाली कहानियोंकी रचना करते हैं। पर यह जानी बात नहीं है कि महाभारतकी कथा बड़ी और सुगठित है, इतना ही नहीं, बल्कि इसका अभी विशेष विस्तार होनेके लिये अवकाश बना हुआ है। वस्तुतः मुख्य विषय महाभारतके युद्धको कविने अपने मनश्चक्षुके सामने सदा रक्खा है और विस्तार करनेके लालचके अभिवश होकर भी वे कहीं बहुत दूर नहीं भटके हैं।'

'पैरेडाइज लास्ट' और 'महाभारत'—इन दोनोंकी तुलना नहीं की जा सकती; परंतु होमरके 'इलियड'के विषय तथा महाभारतके विषयकी तुलना भलीभाँति की जा सकती है। 'इलियड' जिस प्रकार ग्रीसकी जनताका महाकाव्य था, उसी प्रकार महाभारत भारतीय जनताका महाकाव्य था और अबतक है। भारतीय प्रजासे सम्बन्ध रखनेवाली वंशावली, दन्तकथाएँ तथा प्राचीन तत्त्वज्ञानका महान् संग्रह इस ग्रन्थमें प्राप्त होता है।'

पुरुष-पात्र

'जिस पात्रके उच्च पराक्रम और प्रौढ़ विचार महाभारतमें अत्यन्त प्रभावोत्पादक ढंगसे वर्णित हैं, उस पात्रकी योग्य प्रशंसा करनेके लिये शब्द हमको ढूँढ़े नहीं मिलते। श्रीकृष्णके अतिरिक्त युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, कर्ण, द्रौपदी, द्रोण और भीष्मपितामह—ये सभी पात्र महत्ता और नीतिमत्ताके आदर्शके रूपमें परिगणित हुए हैं, और सदा होते रहेंगे। कर्तव्य-पालनार्थ जिन कृत्योंमें आत्म-बलिदानकी आवश्यकता होती है, उनके लिये प्रेरणा-शक्ति इन पात्रोंके द्वारा भारतकी आर्य-प्रजाको सदासे मिलती रही है। दुर्योधन-जैसे पात्रमें भी कुछ और ही प्रताप और सौन्दर्य देखनेमें आता है। उनका अडिग निश्चय, मृत्यु और राज्य-मुकुट—इन दोनोंके मध्यके किसी भी अधकचरे मार्गको न स्वीकार करनेकी उनकी उच्चाभिलाषा—इनका निरूपण कविने अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक ढंगसे किया है। और इसके भीतरसे नये-नये उपदेश अपने-आप निकल आते हैं। पात्रोंके चरित्र-चित्रणके कार्यमें होमर और मिल्टनकी अपेक्षा भी महाभारतके कविकी विशिष्टता स्पष्ट दीख पड़ती है।

स्त्री-पात्र

महाभारतके स्त्री-पात्र भी इलियडके स्त्री-पात्रोंकी अपेक्षा बढ़े-चढ़े दीखते हैं। हेलेन और एण्ड्रोमश भी द्रौपदीकी तुलनामें नहीं आ सकतीं। द्रौपदी-जैसे पात्रद्वारा महाभारतकारने स्त्री-स्वभावकी उच्चताका ऐसा प्रबल उदाहरण हमारे सामने रक्खा है कि इस प्रकारके पात्रकी योग्य प्रशंसा करनेके लिये हमें खोजनेसे भी शब्द नहीं मिलते। द्रौपदी एक साध्वी स्त्री है। आत्मगौरवका भान वह कभी नहीं खोती है। महान्-से-महान् विपत्ति आ पड़नेपर भी वह किंकर्त्तव्य-विमूढ़ नहीं होती। वह इतनी पवित्र और निर्दोष है कि जिसकी कल्पना भी मनुष्य नहीं कर सकता, तथापि उसमें मनुष्यत्व भी है। बहुधा बातचीतके दौरानमें स्त्री-जाति-सुलभ हठ तथा अन्य मनोभाव उसमें दीख पड़ते हैं। बहुधा जिस

बातपर वह अड़ जाती है, उसको स्वीकार करना उसके पतियोंको भी आवश्यक हो जाता है। तथापि वह हल्की नहीं बनती। हेक्टर जिस प्रकार अपनी स्त्रीको घरके धंधेके ही योग्य समझता है, उस प्रकार द्रौपदीको तुच्छ नहीं गिन सकते। वह एक क्षत्रियाणी है। क्षात्र-शौर्य और मनोबल उसके चेहरेपर झलकता रहता है। अरे! जिस समय कीचक और जयद्रथ-जैसे मनुष्य उसको पकड़कर बलात्कार करनेका प्रयत्न करते हैं, उस समय एक क्षत्रियाणीके लिये शोभनीय जोशसे वह उनको ऐसा धक्का देती है कि वे जमीन पकड़ लेते हैं। अवसरदर्शिता भी उसमें ऐसी है कि वैसी अवसर-दर्शिता यदि पुरुषमें हो तो उसे अभिमान आये विना न रहे। उदाहरणार्थ, स्वयंवरमें धनुष चढ़ानेके लिये कर्ण खड़ा होता है, उस समय 'मैं सूतके साथ व्याह करना नहीं चाहती'—यह कहते हुए उसको जरा भी देर नहीं लगती। और 'चौपड़ खेलते समय तू दावपर रक्खी गयी है'—यह जब उससे कहा जाता है तो वह ऐसा प्रश्न उठाती है कि जिससे दुर्योधनके दरबारी बड़ी उलझनमें पड़ जाते हैं। सबसे बढ़कर तो, स्वयंवरमें अर्जुनको प्राप्त होकर उस समय गरीब ब्राह्मणके वेषमें खड़े अर्जुनके साथ सुख-दुःखमें सहचारिणी होनेका इसका उदार सङ्कल्प और दीर्घकालतक वनवासमें पाण्डवोंके साथ रहनेकी पूर्ण इच्छा, इन सारे संयोगोंमें हिंदू रमणीके लिये शोभनीय धैर्य और संतोषवृत्ति रखकर एक समान भक्तिपूर्वक पतिके साथ रहनेकी प्रेरणा इसके हृदयमें निरन्तर प्रवाहित होती है।'

'कुन्ती महाभारतकी दूसरी प्रतापशालिनी स्त्रीपात्र हैं। पाण्डव अपनी स्त्रीको लेकर बारह वर्षके लिये वनवासमें जाते हैं, उस समय विदुरके घरमें रहती हुई कुन्ती माताने श्रीकृष्णके द्वारा अपने पुत्रोंको जो संदेश भेजा है वह सचमुच क्षत्रियाणीके ही अनुरूप है, तथा युद्धमें उनको प्रबल उत्साह प्रदान करनेवाला है। 'विजय प्राप्त करो या मृत्युको प्राप्त हो' इस प्रकारकी इच्छा वह अपने पुत्रोंके सामने प्रकट करती है। इस प्रकार वह अपने पुत्रोंको युद्धके लिये उकसाती है, परंतु वह अपने स्वार्थके लिये नहीं। पाण्डवोंको जब विजय प्राप्त होती है और वे राज्यारूढ़ होते हैं तब कुन्ती उनको छोड़कर धृतराष्ट्रके साथ वनमें चली जाती है और उस अंधे जेठकी सेवा करते-करते अन्तमें मृत्युको प्राप्त होती है। वह जब जाती है, उस समय भीम बहुत विनती करते हुए कहते हैं—'तुम हमारे साथ रहो और तुम्हारी शिक्षाके अनुसार चलनेसे हमको जो फल प्राप्त हुआ है, उसको तुम भी हमारे साथ रहकर भोगो।' परंतु वह सुन्दरतापूर्वक उत्तर देती है कि—'मैं अपने पतिके जीवनकालमें बहुत ही भोगैश्वर्य प्राप्त कर चुकी हूँ। अब मुझको भोगकी इच्छा नहीं है। मैंने तुमको युद्ध करनेकी शिक्षा दी, युद्धके लिये मैंने तुमको उकसाया, इसका कारण केवल यही था कि मैं नहीं चाहती थी कि तुम भीख माँगो।' अलग होनेके समयकी ऐसी अन्तिम शिक्षा स्वर्णाक्षरोंमें लिखने योग्य है—

'धर्ममें तुम अपनी बुद्धि रक्खो। सदा उदारचेता बने रहो (धर्मे ते धीयतां बुद्धिर्मनस्ते महदस्तु च)।' सारे महाभारतका सार इस एक पङ्क्तिमें आ जाता है।'

'महाभारतके स्त्री-पात्र साधारण स्त्रियोंकी अपेक्षा बहुत चढ़े-बढ़े हैं; परंतु जो मनुष्यत्वका तत्त्व हमको अन्यत्र देखनेमें आता है वह इनमें भी है। जिस समय अर्जुन अपनी दूसरी स्त्री सुभद्राको इन्द्रप्रस्थमें लाता है, उस समय द्रौपदी एक प्रबल दृष्टान्तके द्वारा अपना ईर्ष्याभाव प्रकट करती है। वह कहती है कि, 'पहली गाँठ चाहे जितनी कड़ी और मजबूत हो; परंतु उसके पीछे जो दूसरी गाँठ आती है उससे वह ढीली पड़े विना नहीं रहती।' युद्धके मैदानमें कर्णको देखनेके साथ ही कुन्तीको मूर्च्छा आ जाती है। कौरवोंके सामने आक्रमण करनेके लिये उत्तराका भाई जिस समय जाता है उस समय उत्तरा अर्जुनको उसके साथ रहनेके लिये कहती है, और 'मेरे गुड़ियोंके लिये अच्छे-अच्छे वस्त्र चुनकर लेते आना' यह विनती करती है, पर उत्तराके मनमें यह शङ्का भी नहीं आती कि कौरवोंकी बड़ी सेना मेरे भाईको पराजित कर देगी। स्त्रीजातिकी विशुद्धताके सूचक ऐसे-ऐसे प्रसङ्गोंका समावेश कविने अपने ग्रन्थमें किया है, जिसके कारण महाभारतके स्त्री-पात्रोंकी ओर हमारा विशेष प्रेम उत्पन्न होता है।'

देव-पात्र

पुरुष-पात्र और स्त्री-पात्रके अतिरिक्त देव-पात्र भी महाभारतमें आते हैं। ये पात्र सचमुच देवता ही हैं। इलियडके देवता पात्रोंके समान हास्य उत्पन्न नहीं करते। साधारणतः यह कहा जाता है कि, महाकाव्यकी गम्भीर और प्रौढ़ रचनामें हास्यरसके चित्रोंके लिये कुछ भी अवकाश नहीं रहता; तथापि इलियडमें यदि कुछ हास्यरस चित्रण हुआ है तो वह आलिम्पस पर्वतके ऊपरके देवताओंसे सम्बन्ध रखता है। स्वर्गके देवता भूमण्डलपर होनेवाली रचनाके लिये विवाद करते हैं। अति क्षुद्र हेतुसे प्रेरित होकर मनुष्यकी सहायता करनेमें अत्यन्त व्यस्त होकर बर्तते हैं। आश्चर्य तो यह है कि सबसे समर्थ देवता जुपिटर (बृहस्पति) भी कतिपय पक्षपातमें लिप्त अपनी स्त्री ज्यूनोंके हठसे अनेकों बार व्याकुल हो उठते हैं, और कभी-कभी तो अपनी स्त्रीको मार डालनेकी धमकी भी दे बैठते हैं। महाभारतके देवता अनेक दृष्टिसे ग्रीक लोगोंके देवताओंके समान हैं; परंतु कवि कभी उनको उनके उच्च स्थानसे पदभ्रष्ट नहीं करता।

कवितामें बहुत ही प्रभावोत्पादक ढंगसे कवि इन पात्रोंका प्रवेश कराता है, और इस प्रकार काव्यके पात्रोंकी विविधता-में वृद्धि करता है। मानवीय विषयोंमें व्यासके देवता शायद ही कहीं बीचमें पड़ते हैं, यदि कहीं पड़ते भी हैं तो अपना व्यवहार देवताओं-जैसा ही रखते हैं, स्वार्थी मनुष्योंके-जैसा बर्ताव वे नहीं करते। इसका एक उदाहरण मैं दूँगा। युद्धमें कर्ण अजेय है—ऐसा अर्जुनको न लगे, इसके लिये कर्णके प्राकृतिक कवचको जो उसके जन्मके साथ ही उत्पन्न हुआ था, लेनेके लिये कर्णके पास इन्द्रके जानेका वर्णन आता है। कर्ण ऐसा दानी प्रसिद्ध था, जो ब्राह्मणोंको किसी भी वस्तुके लिये खाली नहीं जाने देता था। इसलिये ब्राह्मणका वेष धारण करके इन्द्र कर्णके पास जाता है और कहता है कि 'तुम अपना कवच मुझको दे दो।' दानी कर्ण इन्द्र-को पहचान लेता है, फिर भी उसको अपना कवच दे देता है। यहाँ 'इन्द्र उस कवचको लेकर अभिमानपूर्वक चलता बना'—ऐसा वर्णन महाभारतमें नहीं दिया है, परंतु देवता-को जैसा शोभता है, वैसे ही बर्तावकी रक्षा करते हुए इसको प्रदर्शित किया गया है। कर्णके ऊपर वह प्रसन्न होता है और देवताके रूपमें कर्णको वरदान माँगनेके लिये कहता है। कर्ण यह वरदान माँगता है कि 'एक मर्त्यके विरुद्ध छोड़ा जा सके, ऐसा एक अमोघ अस्त्र मुझको दो।' पश्चात्, यह अस्त्र शायद अर्जुनके विरुद्ध ही प्रयोग करनेमें न आ जाय, इसकी आशङ्का न करके इन्द्र एक अस्त्र उसको देता है। फिर, अर्जुन स्वर्गमें अथवा इन्द्रके दरबारमें जाता है, वहाँ उसको शिवके दर्शन होते हैं, और शिव उसके ऊपर प्रसन्न होते हैं। यह विषय, जिसका विस्तार भारविने अपने 'किरातार्जुनीय' नामक महाकाव्यमें किया है, महाभारतमें कुछ सुरम्य रेखाचित्रोंके द्वारा चित्रित हुआ है; और इसमें स्वर्गके पात्रोंका बर्ताव मनुष्यों-जैसा नहीं, बल्कि देवताओं-जैसा ही दिखलाया गया है।'

संवाद और भाषण

'व्यासजी अपने पात्रोंको कैसे प्रतिष्ठित करते हैं, उनकी कथा कैसे आगे बढ़ती है, अब इस प्रश्नके ऊपर हम विचार करेंगे। आर्नल्डने महाकाव्य (Epic Poem) का जो लक्षण दिया है, उसमें एक अंशका सारांश यहाँ हम देते हैं। 'संवाद, स्वगत-भाषण और वर्णन—इन तीनोंके मिश्रणके द्वारा महाकाव्यका विकास होता जाता है। महाभारतके ग्रन्थमें जिस प्रकार महाकाव्यके दूसरे लक्षण पुष्ट दीख पड़ते हैं, उसी प्रकार यह लक्षण भी देखनेमें आता है। महाभारतमें संवाद अत्यन्त उत्तम होते हैं। वस्तुतः संवादोंमें ही इस काव्यकी विशेष शक्ति निहित है। इलियड और पैरेडाइज लास्ट (Iliad and Paradise Lost) के समान इस काव्यके सारे भाषण सुयोजित, वक्तृत्वसे भरपूर और जोशीले हैं, तथा पृथक्-पृथक् पात्रोंके मुखसे जो भाषण कराये जाते हैं, वह उन-उन पात्रोंके मुखसे ही शोभा देते हैं। कोई भाषण ऐसा नहीं है, जिसको विस्तारपूर्वक यहाँ लिखा जाय; इसलिये कुछ श्रेष्ठ भाषणोंकी सूचना देकर ही हमको विराम लेना पड़ेगा। आदिपर्वमें धनुर्विद्याके ज्ञानकी परीक्षाके समय दुर्योधन, कर्ण, अर्जुन और भीम—इन चारोंके बीच चलनेवाला संवाद; सभापर्वमें जिस संवादके अन्तमें श्रीकृष्णने सुदर्शनचक्र फेंककर शिशुपालका नाश किया था, वह शिशुपाल और भीष्मका संवाद; वनपर्वमें प्रपञ्चके सामने प्रपञ्च करनेकी सलाह जहाँ द्रौपदीके द्वारा दी गयी है; द्रौपदी, भीम और युधिष्ठिरका संवाद; द्रोणपर्वमें द्रोण जिस समय अपनी रक्षा करनेमें असमर्थ थे, उस समय धृष्टद्युम्नने उनका वध किया, तत्पश्चात् सात्यकि, अर्जुन, धृष्टद्युम्न और युधिष्ठिर—इन चारोंके बीच चलनेवाला संवाद—ये विशेषरूपसे ध्यान देने योग्य हैं। उभयपक्षके बीच संधि करानेके उद्देश्यसे श्रीकृष्ण जाते हैं, और कौरवोंके आगे जो भाषण करते हैं, वह साहित्यका एक श्रेष्ठ नमूना है। और यही एक नमूना समर्थ भाषणकी कल्पना करनेकी व्यासकी अद्भुत क्षमताका चित्र पाठकोंके हृदयमें अङ्कित कर देता है। श्रीकृष्णके उत्कृष्ट भाषणका एक दूसरा उदाहरण कर्णपर्वमें प्राप्त होता है; कर्णके साथ लड़नेके लिये अर्जुन आगे बढ़ता है, उस समय अर्जुनको प्रोत्साहन करनेके लिये श्रीकृष्ण जो भाषण करते हैं, वह बहुत ही रम्य और प्रभावोत्पादक है। यह और ऐसे अनेकों भाषण महाभारतके काव्यमें कुछ और ही रमणीयता-की सृष्टि करते हैं, और इस महाकाव्यको मानो नाटक-जैसा बना देते हैं।''

निर्भयता महाभारतके भीतरके भाषणोंका एक विशेष लक्षण है। सामनेके मनुष्यको मुखसे अपने अभिप्रायको हिम्मतसे कह सुनावे, इस प्रकारके निश्छल हृदय तथा प्रामाणिक मनुष्योंके वचन इस ग्रन्थमें व्यक्त किये गये हैं। उदाहरणार्थ, दुर्योधन जब-जब कोई बुरा कर्म करता है, तब-तब विदुर उसको कड़े-से-कड़े शब्दोंमें फटकारनेसे नहीं चूकते। परंतु विदुरके लिये तो कदाचित् यह भी कहा जा सकता है कि उनका पद तथा उनका सम्बन्ध इस प्रकारका था कि वह यदि पूर्ण स्वतन्त्रतापूर्वक बोलें तो भी कोई हानि न हो। शकुन्तलाको इस प्रकारकी निर्भयता प्रदान करनेका कोई कारण न था, फिर भी व्यासकी शकुन्तला कालिदासकी शकुन्तलासे इस अर्थमें और ही है। यह ग्राम्यबाला, निश्छलहृदया, हिम्मतवाली तथा सद्गुणके गौरवको समझने-वाली है। भरी सभामें राजा दुष्यन्तने जब यह कहा कि 'मैंने तुझे कहीं देखा ही नहीं, फिर तेरे साथ परिणय कैसे हो गया?' तब उसने उत्तर दिया कि 'सत्यके लिये यदि

तुम्हारे भीतर सम्मान नहीं है तो तुम्हारे-जैसे पुरुषका सङ्ग मुझे नहीं चाहिये। पति या पुत्रकी अपेक्षा भी सत्य अधिक मूल्यवान् वस्तु है।' कालिदासके प्रख्यात नाटककी कुम्हली नायिकाके समान वह मूर्च्छित नहीं होती, परंतु वह रुष्ट होकर राजसभासे चल देती है।'

कर्णपर्वमें शल्य और कर्णका संवाद, महाभारतके पात्र किस प्रकार स्वच्छन्दतापूर्वक बोलते हैं—इसका एक दूसरा उदाहरण है। एक विशेष उपदेश देनेके उद्देश्यसे हंस और कौएकी वार्ता जो कही गयी है, वह बहुत ही सरस तथा पठनीय है। वस्तुतः व्यासजीने अपने पात्रोंके मुखसे नीतिका महान्-से-महान् उपदेश बड़ी सुन्दरतापूर्वक प्रदान कराया है और सत्यता, सरलता, स्वाभिमान, कर्त्तव्यपरायणता, उदारता, आत्मसंयम आदिके आवश्यकतानुसार असंख्य उपदेश और दृष्टान्त इस ग्रन्थमें प्राप्त होते हैं। केवल एक ही सद्गुण—स्वदेशाभिमानके विषयमें इस ग्रन्थमें कहीं भी कुछ कहनेमें नहीं आया है; 'इलियड' के कुछ भाषणोंमें देशाभिमानका जोर पूर्णतः देखनेमें आता है, पर उसका यहाँ पूर्ण अभाव है। इसका एकमात्र कारण यह है कि पश्चिमके देशोंमें राजकीय प्रभुता बढ़ानेके लिये प्रयोजनीय देशाभिमान आदि जिन-जिन सद्गुणोंका विकास हुआ था, वह भारतके आर्य लोगोंमें नहीं हुआ था; अथवा कदाचित् यह भी हो सकता है कि एक ही कुटुम्बके दो पक्षके बीचका युद्ध ही एक ऐसा विषय है कि इसमें स्वदेशाभिमानके उद्गारके लिये कोई प्रसङ्ग ही नहीं आता।

अब हम स्वगत भाषणको लेते हैं। संस्कृतके कवि नाटकोंके सिवा दूसरी रचनाओंमें स्वगत भाषणोंका कुछ भी उपयोग करते हुए नहीं दीखते। नाटकोंका 'स्वगत' भी बहुत ही संक्षिप्त होता है, और उसमें वक्तृत्वकी सुन्दरता अधिक नहीं देखी जाती। रणभूमिमें घायल होकर पड़ा हुआ दुर्योधन जो विलाप करता है, उसको यदि स्वगत भाषणमें न गिनें तो सारे महाभारतमें एक भी स्वगत भाषण नहीं आता, यह हम कह सकते हैं। मेरे विचारके अनुसार, 'स्वगत भाषण' कुछ अप्राकृतिक वस्तु है। मनुष्य कभी-कभी संक्षिप्त विचार करे तो यह सम्भव हो सकता है; परंतु मनमें विचार चलता हो, उस समय एक अखण्ड और जोशसे भरा हुआ भाषण दिया जाय—यह तो बहुत कम लोगोंसे ही बन सकता है। कदाचित् किसीसे भी नहीं बन सकता, परंतु इस विषयमें हम किसी प्रकारकी चर्चामें उतरना नहीं चाहते। महाभारतमें स्वगत-भाषण बिल्कुल ही नहीं हैं, यह बात नोट करके ही हम संतोष करेंगे।

युद्धके वर्णन

वर्णनके विषयमें महाभारतके कविका सामर्थ्य होमर अथवा मिल्टनके जैसा ही देखनेमें आता है। इनकी बात कहनेकी रीतिमें सदा जोश और स्पष्टता देखनेमें आती है। और इनके वर्णन बहुत ही यथार्थ और प्रौढ़ होते हैं। युद्धका विस्तारपूर्वक वर्णन करनेमें तो व्यासकी शक्ति सचमुच ही अद्भुत है। महाभारतके छोटे-छोटे द्वन्द्वयुद्धोंका जो वर्णन दिया गया है, उनके सम्बन्धमें कदाचित् ही कोई यह टीका करना चाहेगा कि इन वर्णनोंमें पुनरुक्तिकी अधिकता है। 'अमुक योद्धाने अपने प्रतिपक्षीके सामने इतने अस्त्र प्रहार किये और उसने बदलेमें इतने अस्त्र प्रहार किये' इस प्रकार द्वन्द्व-युद्धका वर्णन किया गया है। और इसी प्रकारके वर्णन बार-बार आते हैं, इससे पाठकका चित्त स्वभावतः उकताये बिना नहीं रहता। इलियडमें भी इसी प्रकारके वर्णन आते हैं, और उससे भी हमारा जी जरा उकता जाता है। परंतु जिस समय इस प्रकारके अस्त्र ही युद्धके मुख्य साधन थे, और जिस समय रणस्थलमें उभयपक्षके सरदारोंके मध्य द्वन्द्वयुद्ध ही अधिक देखनेमें आते थे, उस समयका पूरा-पूरा विचार भी हमको अपने मनमें रखना चाहिये। महाभारतमें युद्धके जो वर्णन देखनेमें आते हैं, उनमें भी कविने जो विविध प्रकारके चित्र चित्रित किये हैं, तथा जोशीले ढंगसे जो उनका वर्णन किया है, वह सचमुच ही आश्चर्यजनक है। इलियडके समान महाभारतकी, विशेषतः इसकी युद्धकी कथाओंसे श्रोताओंके हृदयमें शौर्यकी लहरें उठने लगती हैं। और शिवाजीके भीतर जो पराक्रमशीलता आयी थी, वह इस कथाके सुननेसे आयी थी—इस बातको सभी जानते हैं।

दूसरे कतिपय वर्णन

सृष्टि—सौन्दर्यके वर्णनमें महाभारतका काव्य रामायणकी अपेक्षा कुछ उतरता हुआ जान पड़ता है। सारे ग्रन्थमें इस प्रकारके वर्णन बहुत कम ही देखनेमें आते हैं। परंतु वनपर्वमें हिमालयका वर्णन ऐसा हुआ है कि बर्फसे आच्छादित इस भारतके उत्तरी प्रदेशको जिसने अपनी आँखों देखा है, अथवा जिसने इस प्रदेशमें निवास किया है, उसके द्वारा यह वर्णन किया गया है—ऐसा हमको लगता है। पर्वतके ऊपर गिरती हुई हिम-राशिमें पाण्डव और द्रौपदी फँस गये थे, इसका वर्णन इतना सटीक हुआ है कि जैसे वर्तमान कालमें बर्फके तूफानमें बहुधा मेलट्रेन पड़ जाती है और मनुष्योंकी जान चली जाती है तथा उसका समाचार हम समाचारपत्रोंमें पढ़ते हैं, वैसा ही यह वर्णन भी हमको लगता है। परंतु गन्धमादन पर्वतका जो वर्णन दिया गया है, वह यद्यपि बहुत ही सुन्दर और पूर्ण है, तथापि उसमें कुछ विस्तारकी बातें अपनी ओरसे जोड़ी हुई जान पड़ती हैं। उदाहरणार्थ, पर्वतको सुशोभित करनेवाले वृक्षोंमें

तालवृक्षका भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकारके कथनके लिये सच्ची वस्तुस्थितिका आधार नहीं है, किंतु कल्पनाका आधार लिया गया है—ऐसा लगता है।'

'मनुष्योंका वर्णन करनेमें महाभारतकी शैली निर्मल और जोशीली जान पड़ती है। स्त्री-सौन्दर्यका वर्णन करनेमें परवर्ती कालके संस्कृत कवियोंके समान विषयपरायणता महाभारतमें नहीं देखनेमें आती। द्यूतक्रीडाके प्रसङ्गमें द्रौपदीको दावपर रखते समय युधिष्ठिरने जो उसका वर्णन किया है, वह इस प्रकारके वर्णनका एक उत्तम नमूना है—

नैव ह्रस्वा न महती न कृशा नापि रोहिणी।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया॥
शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया॥
तथैव स्यादानृशंस्यात्तथा स्याद् रूपसम्पदा।
तथा स्याच्छीलसम्पत्त्या यामिच्छेत् पुरुषः स्त्रियम्॥
चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम्॥
तथैवविधया राजन् पाञ्चाल्याहं सुमध्यमा।
ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल॥

अर्थात् 'न तो नाटी है और न ऊँची है, न दुबली है और न मोटी; ऐसी काले और कुञ्चित केशवाली द्रौपदीको मैं दावपर रखता हूँ। शरद्-ऋतुके कमलपत्रके समान आँखोंवाली, शरद्-ऋतुके कमलके समान गन्धवाली, शरद् ऋतुके कमलका सेवन करनेवाली तथा लक्ष्मी-जैसी कान्तिवाली, सौजन्यमें, रूपसम्पत्तिमें और शीलसम्पत्तिमें कोई भी पुरुष जैसी स्त्रीकी इच्छा करता है वैसी, पतिके सो जानेपर जो सोती है और पतिके उठनेके पहले जो उठती है ऐसी, गौ और भेड़ चरानेवालोंसे लेकर समस्त कर्मचारियोंके सारे कार्योंको जानती है, उस पतली कमरवाली और सुन्दर अङ्गोंवाली द्रौपदीको मैं दावपर रखता हूँ।'

'कीचक जैसे विषयासक्त पात्रके मुखसे कविने द्रौपदीके सौन्दर्यकी जो प्रशंसा करायी है, वह भी जैसी दीख पड़ती है, वैसी दूषित नहीं है। बृहन्नलाके वेषमें छिपे अर्जुनका वर्णन दिया गया है, वह भी बहुत ही सुन्दर और सच्चा है। तथा भीष्म और द्रोण—ये दोनों योद्धा युद्धमें जाते हैं एवं आदिपर्वमें दूसरोंके साथ मुकाबलेमें उतरनेकी कर्ण तैयारी करता है, वह वर्णन भी ऐसा ही है। इस सम्बन्धमें उदाहरण-के रूपमें इतना ही लिखना बस होगा।'

भाषा और छन्दरचना

''महाभारतमें प्रयुक्त छन्द और महाभारतकी भाषा, यह एक प्रश्न अब विचारनेके लिये शेष रह गया है। महाभारतका काव्य मुख्यतः अनुष्टुप् छन्दमें रचा गया है। इसमें बहुधा उपजाति छन्दका भी प्रयोग किया गया है। संस्कृत भाषामें महाकाव्यके भीतर इन दो छन्दोंका ही बहुतायतसे प्रयोग किया गया है। जो प्रसिद्ध महाकाव्य हैं, वे सभी अधिकांशमें इन्हीं दो छन्दोंमें रचे गये हैं; और बीचमें किसी-किसी स्थानमें दूसरे छन्द प्रयुक्त हुए हैं। पुराण, उपपुराण तथा काव्यकलाके ग्रन्थ, सभीमें अनुष्टुप् छन्दका उपयोग होनेके कारण इस छन्दका गौरव घट गया है। यह छन्द अतिशय प्रयुक्त हो चुका है तथा सहज है, ऐसा हमको लगता है; परंतु हमें याद रखना चाहिये कि जब समर्थ कवियोंके द्वारा इस छन्दका उपयोग होता है तो इसके प्रताप और सामर्थ्यमें बिल्कुल ही कमी आती नहीं दीख पड़ती। कालिदासने रघुवंश नामक काव्यकी रचना की है, उसका पहला और चौथा सर्ग अनुष्टुप् छन्दमें ही रचा गया है। फिर भी वह अति उत्तम समझा जाता है। एक ह्रस्व और एक दीर्घ, दो अक्षरके पदवाले अंग्रेजी (Iambic) के समान अनुष्टुप् छन्द यद्यपि सारे वीरचरित काव्योंमें और महाकाव्योंमें साधारणतः प्रयुक्त होता है, तथापि अंग्रेजी और संस्कृत इन दोनों भाषाओंमें काव्यके गौरवका आधार इस बातपर निर्भर करता है कि काव्यकी रचना करनेवाला कवि वास्तविक कवि है या तुकड़ है।'

महाभारतकी भाषा भी गौरवयुक्त और महाकाव्यको सुशोभित करनेवाली है। इसके तीन मुख्य लक्षण देखनेमें आते हैं—सरलता, प्रौढ़ता और शुद्धता। सरलता और प्रौढ़ता दोनों ही एक साथ देखनेमें आवें, यह तो सचमुच क्वचित् ही बन पाता है। सारे अर्वाचीन महाकाव्योंमें वाणीका गौरव तो देखनेमें आता है, परंतु यह गौरव लानेमें स्पष्टार्थताकी बलि दिये बिना काम नहीं चलता। इन काव्यों-की वाणीका आनन्द हम श्रवणमात्रसे प्राप्त कर पाते हैं, परंतु अर्थ समझनेके पहले प्रत्येक अक्षरपर रुक-रुककर विचार करनेकी जरूरत पड़ती है। महाभारतकी भाषा इस प्रकारकी नहीं है। परवर्तीकालके पुराण इस सरलताके विषयमें कदाचित् महाभारतकी अपेक्षा आगे बढ़ गये हैं, परंतु बहुधा उनमें अशुद्ध भाषा प्रयुक्त हुई है और इन अशुद्ध प्रयोगोंके सम्बन्धमें स्थान-स्थानपर टीकाकारोंने भी 'यह आर्ष प्रयोग है'—ऐसा कहकर जान बचानेकी चेष्टा की है। बात-चीतमें प्रयुक्त होनेवाली भाषाके ऊपर अधिकार रखनेवाले एक समर्थ लेखककी छाप महाभारतकी भाषाके ऊपर अच्छी तरहसे पड़ी हुई दीख पड़ती है। मिल्टन कविके सम्बन्धमें आर्नल्डने कहा है कि मिल्टनकी भाषा वैषम्ययुक्त होते हुए भी विषयके गौरवके साथ भाषाका गौरव भी घटता बढ़ता जाता है, तथापि इसकी अंग्रेजी शुद्ध और निर्दोष नहीं होती। अंग्रेजी लिखनेमें लैटिन और ग्रीक शब्द, यहीं क्यों,

लैटिन और ग्रीक वाक्यरचनाको भी ठूँसते जाते हैं। मैं मानता हूँ कि महाभारतकी भाषा जो पैरैडाइज लास्ट (Paradise Lost) की भाषाके समान गौरवयुक्त नहीं है, तथापि शुद्धताकी दृष्टिसे यह भाषा 'पैरैडाइज लास्ट' की अपेक्षा ऊँचे दर्जेकी है।'

''महाभारतकी भाषाका सौन्दर्य समझनेकी जिसकी इच्छा हो, उसे भगवद्गीता बाँचनी चाहिये। गीताके विषयमें स्वयं कविने जो कहा है उसके अनुसार सारे महाभारतका अमृत और सर्वस्व इसमें आ जाता है। महाभारतकी ऊँची-से-ऊँची फिलासफीका उपदेश इसमें निहित है। इतना ही नहीं, बल्कि कविका संस्कृत भाषाके ऊपर कितना अधिकार है—यह भी इस कवितासे भलीभाँति ज्ञात हो जाता है। वैदिक कालके पीछेके अर्थात् शुद्ध संस्कृत साहित्यके सारे क्षेत्रमें एक भी ग्रन्थ नहीं है, जो भाषाकी सरलतामें, वाणीकी मिठासमें और शैलीकी प्रौढ़ता तथा रुचिरतामें भगवद्गीताकी समानता कर सके। इस श्रेष्ठ गीताके शब्द और वाक्य सचमुच शुद्ध सुवर्णके बने हैं; क्योंकि ये आकृतिमें छोटे, वजनदार और तेजस्वी हैं।'

नीतिके उपदेश

'महाकाव्यमें नीतिके उपदेशोंका समावेश होना ही चाहिये, ऐसी बात नहीं; परंतु महाभारतमेंसे ऐसे अच्छे उपदेश निकाले जा सकते हैं। ये उपदेश सम्पूर्ण विशाल पटमें फैले सारे तन्तुओंको जोड़नेवाले सूत्रके समान हैं। ये उपदेश क्यों हैं, यह तर्क उठानेकी आवश्यकता भी कविने नहीं रहने दी है। कविने स्वयं ही ये उपदेश हमको दिये हैं। प्रत्येक स्थितिमें, चाहे जैसी विपत्तिके प्रसङ्गमें भी धर्मपर आरूढ़ रहे, ऐसे उपदेश महाभारतमें स्थान-स्थानपर दिये गये हैं। 'धर्म' का अर्थ है ईश्वरके प्रति तथा मनुष्यके प्रति अपने सारे कर्तव्य। महाभारतके अन्तमें पाँच श्लोक हैं, उनमें यह उपदेश विशेष-रूपसे कथित हुआ है। इन पाँचों श्लोकोंको एकत्र करके इनके लिये 'भारतसावित्री' यह नाम प्रयुक्त हुआ है। एक शास्त्रीजीने मुझे बतलाया था कि 'प्रातःस्मरण' करते समय प्रतिदिन प्रातःकाल धर्मात्मा ब्राह्मण इस 'भारतसावित्री' का पाठ करते हैं। उनमेंसे एक श्लोक यहाँ उद्धृत करते हैं—

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति माम्।
धर्मादर्थश्च कामश्च स धर्मः किं न सेव्यते॥

'मैं भुजाओंको उठाकर यह घोषित करता हूँ, कोई मेरी बात नहीं सुनता कि जिस धर्मसे अर्थ और कामकी प्राप्ति होती है, उस धर्मका सेवन क्यों नहीं करते।'

क्या पाण्डव काल्पनिक हैं ?

'कुरु और पाञ्चाल, इन दो पड़ोसी आर्यलोगोंमें जो महायुद्ध हुआ था, उस महायुद्धमें भाग लेनेवाले पात्रोंके विषयमें इस प्रकरणमें हम चर्चा करेंगे। साधारणतः इतना तो स्वीकार ही किया जाता है कि 'पड़ोसके दो प्रजाजन पीछे एकत्र होकर एक प्रजाके रूपमें आ गये, उनके बीचके एक प्राचीन युद्धकी घटनाके आधारपर पीछे महाभारतकी रचना हुई है।' परंतु यह युद्ध कब हुआ था, यही नहीं; बल्कि इस युद्धमें भाग लेनेवाले कौन थे, इस सम्बन्धमें बहुत मतभेद है। वे वर आदिके तर्कोंका अनुसरण करते हुए श्रीदत्त ऐसा मानते हैं कि 'पाण्डवोंको दन्तकथाके कल्पित वीरके रूपमें मानना चाहिये।' क्योंकि महाभारतके जो दूसरे पात्र हैं, उनके विषयमें तत्कालीन वैदिक-साहित्यमें अनेक बार उल्लेख हुआ है, परंतु पाण्डवोंके विषयमें कहीं भी कोई उल्लेख देखनेमें नहीं आता। उदाहरणार्थ, परीक्षित्-के पुत्र जनमेजयका नाम वैदिक साहित्यमें अनेक बार आता है; परंतु भारतकी लड़ाईके मुख्य योद्धा तथा जनमेजयके प्रपितामह अर्जुनका नाम कहीं भी देखनेमें नहीं आता। ब्राह्मणग्रन्थोंमें अर्जुन शब्द इन्द्रके नामके रूपमें प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। इस हेतुको लेकर, महाभारतमें वर्णित विषयों-का ऐतिहासिक दृष्टिसे सार प्रदान करनेके पहले इस प्रश्नकी चर्चा आवश्यक है कि 'क्या पाण्डव काल्पनिक व्यक्ति हैं ?'

''साधारणतः तो ऐतिहासिक घटनाओंका जहाँ वर्णन हो, उस ग्रन्थमें घटनाविशेष या व्यक्तिविशेषके विषयमें हुए वर्णनके अनुसार इतना ही कह देना पर्याप्त हो जाता है कि अमुक व्यक्ति हो गया है तथा अमुक घटना घट चुकी है। मोज़ेज अथवा रोम्युलस हुए हैं या नहीं, इस सम्बन्धमें तत्कालीन इतिहास-ग्रन्थ, अथवा तत्कालीन मनुष्योंने यदि इतिहास न लिखा हो तो परम्परासे प्राप्त मान्यताओंके आधारपर रची पुस्तकोंके सिवा किसी दूसरे प्रमाणकी आवश्यकता नहीं पड़ती। तथा दूसरा कोई प्रमाण प्राप्त होना सम्भव भी नहीं होता। अवश्य ही, परम्परासे आनेवाली मान्यताएँ अथवा ऐतिहासिक ग्रन्थ सत्य नहीं हैं, यह यदि प्रमाणित हो जाय अथवा इनके ऊपर भरोसा करना ठीक नहीं, ऐसा कोई दृढ़ तर्क दिया जा सके तो उन मान्यताओं तथा ऐतिहासिक ग्रन्थोंकी प्रामाणिकता स्वीकार नहीं करनी चाहिये—यह बात ठीक है। परंतु जहाँ ऐसी स्थिति नहीं है, वहाँ इन मान्यताओं अथवा इन ऐतिहासिक ग्रन्थोंके ऊपर निर्भर न करनेका कोई कारण नहीं दीखता। महा-भारतका महाकाव्य कोई उपन्यास नहीं है, बल्कि इसकी रचना इतिहासके रूपमें हुई है। इसलिये जबतक इसके विरुद्ध प्रबल तर्क नहीं आते, तबतक महाभारतके अन्तर्गत वर्णित पाण्डव और उनके शत्रु सचमुच ही हो गये हैं तथा उनके किये गये पराक्रमोंका जो वर्णन प्राप्त है, वह सचमुच ही हुआ है, यही हमको मानना चाहिये।''

"इस निर्णयके विरुद्ध जो विरोधी पक्षके लोग दलील देते हैं, वह बहुधा विचार-विहीन होती है। हम विचार करें तो ज्ञात होगा कि तत्कालीन अथवा परवर्ती वैदिक साहित्यमें पाण्डवोंके विषयमें कोई उल्लेख नहीं दीख पड़ता, केवल इतनेसे ही कोई अनुमान नहीं निकाला जा सकता। जबतक यह सिद्ध नहीं हो जाता कि इस प्रकारके साहित्यमें उनका उल्लेख करना आवश्यक ही था, तबतक पाण्डवोंके विषयमें उल्लेखकी बात कोई महत्त्व नहीं रखती। और भी उत्कट उदाहरण लें तो पार-डी-वर्गकी जब लड़ाई हुई थी उस समय सैकड़ों पुस्तकें लिखी गयी थीं और उसके बाद ही लिखी गयीं। परंतु उनमें अधिकांश पुस्तकोंमें लार्ड रावर्ट्‌स अथवा लार्ड किचनर, जो निःसन्देह आधुनिक समयके महान्‌-से-महान्‌ वीर पुरुष हुए हैं, इनका नाम बिल्कुल ही नहीं आया है। इसपर यदि हम यह कहें कि ये पुरुष हुए ही नहीं तो इससे बढ़कर मूर्खताकी बात न होगी। मराठों और अफगानोंके बीच पानीपतकी बड़ी लड़ाई हुई; इसके बाद मराठी, अंग्रजी आदि भाषाओंमें अनेकों पुस्तकें लिखी गयीं तथा अनेकों कविताएँ रची गयीं। परंतु प्रत्येक पुस्तक या प्रत्येक कवितामें इस लड़ाईके विषयमें अथवा इसके नेताओंके विषयमें सूचित किये जानेकी आशा करना हास्यास्पद है। पानीपतकी लड़ाईके बाद रची गयी किसी पुस्तकमें यदि सदा-शिवराव भाऊ अथवा जंकोजी सिंधियाका नाम बिल्कुल ही देखनेमें न आवे तो इससे यह अनुमान करना कि 'वे लोग हुए ही नहीं थे' भूलसे भरा हुआ माना जायगा। इन प्रबल उदाहरणोंसे यह ज्ञात हो जाता है कि विरोधी पक्षका तर्क कितना हास्यास्पद है। ऊपर जिस पुस्तकोंके विषयमें हमने लिखा है वे पुस्तकें बोअर लोगोंका तथा मराठोंका इतिहास लिखनेके विशेष उद्देश्यसे उस समय या उसके कुछ बाद रची गयी होतीं तो बात दूसरी थी; क्योंकि ऐसे इतिहास-ग्रन्थोंमें तो स्वभावतः इन घटनाओं तथा इनमें भाग लेनेवाले मनुष्योंके विषयमें उल्लेख होना आवश्यक है। अब यह तो जानी हुई बात है कि वैदिक साहित्यमें साधारणतः धर्मानुष्ठानोंकी विधियाँ तथा कभी-कभी तत्त्वज्ञान और अध्यात्मविद्याके सिद्धान्त वर्णित हुए हैं। इनमें ऐतिहासिक विषयोंका उल्लेख कदाचित्‌ ही कहीं है और वह भी उदाहरणके रूपमें दिया गया है। जो घटनाएँ घटी हैं तथा जो मनुष्य हो गये हैं, उनका सबका उल्लेख वैदिक ग्रन्थोंमें किया जाना कभी सम्भव नहीं है। हमारे मन्तव्यके अनुसार तो महाभारतकी लड़ाईके विषयमें अथवा पाण्डवोंके विषयमें इन ग्रन्थोंमें कहीं उल्लेख नहीं हुआ है, इस आधारपर यह अनुमान लगाना कि लड़ाई हुई ही नहीं अथवा पाण्डव हुए ही नहीं, तार्किक दृष्टिसे सम्भव नहीं है; क्योंकि महाभारतके भीतर जो ऐतिहासिक प्रमाण हमें प्राप्त हुए हैं, उन प्रमाणोंको काटनेवाले प्रबल कारण हमें उपलब्ध नहीं होते।'

'परंतु इसके सिवा, पाण्डव हुए ही नहीं—इस विचारके विरुद्ध दूसरे भी प्रबल तर्क हैं। अपने ग्रन्थके मूल संस्करणमें श्रीदत्तजीने यह अभिप्राय व्यक्त किया था कि 'महाभारतका युद्ध सचमुच ही हुआ था, परंतु पाण्डव कुछ विशिष्ट सद्गुणोंके मूर्त्तरूप हैं, और कवि-कल्पनाके द्वारा पीछेसे इन पात्रोंकी सृष्टि की गयी थी।' परंतु महाभारतके भीतर ही पाण्डवोंके जीवनचरित्र-सम्बन्धी कुछ तथ्य हैं, जिनका इस सिद्धान्तके साथ मेल नहीं खाता। उदाहरणार्थ, पाँच भाइयोंके विषयमें यह कहा गया है कि वे एक ही स्त्री (द्रौपदी) को व्याहे थे। और भारतके आर्योंमें अनेक पतियोंके साथ व्याह करनेका रिवाज कहीं भी नहीं था। वैदिक-कालके ऋषि ऐसा कहते थे कि 'यज्ञकी एक ही रज्जु अनेकों स्थाणुओंको लपेट नहीं सकती, उसी प्रकार एक ही स्त्री अनेक पुरुषोंको व्याही नहीं जा सकती।' यदि उनके मन्तव्यके अनुसार एक ही स्थाणुको यज्ञकी अनेक रज्जुएँ घेर सकती हैं तो एक पुरुषको अनेक स्त्रियाँ भीं व्याही जा सकती हैं। तब सद्गुणके मूर्त्तस्वरूप समझे जानेवाले ये पात्र सद्वृत्तिविषयक आर्य विचारोंके विरुद्ध बर्तते हुए क्यों प्रदर्शित किये गये हैं ? महाभारतमें ही यह बात स्वीकार की गयी है कि इस प्रकारका व्यवहार साधारण न होकर अन्य ही प्रकारका था। और इस व्यवहारके समर्थनमें विभिन्न स्थलोंमें विभिन्न व्याख्याएँ दी गयी हैं, यह भी हमने स्पष्ट देखा है। बल्कि द्रौपदीके प्रति किये गये अपमानका बदला लेनेके लिये युद्धमें दुःशासनको मारकर उसका रुधिर पान करते हुए भीमने इसका वर्णन किया है। यह जंगली बर्ताव भी प्रत्येक मनुष्यकी सद्वृत्तिविषयक सामान्य विचारके विपरीत है, और पिछले समयके कल्पित वीरोंमें कविने इस प्रकारके लक्षणका आरोप किया हो—यह बात मान्य नहीं हो सकती। ऐसे अनेकों छोटे-छोटे प्रसङ्गोंसे हमें ऐसा जान पड़ता है कि पाण्डवलोग कल्पित नहीं हैं, बल्कि सचमुच होनेवाले वीर पुरुष थे। इस सम्बन्धमें कदाचित्‌ यह तर्क उठाया जाय कि जिस समय आर्यलोगोंमें अनेक पतियोंसे व्याह करनेका रिवाज था, तथा जिस समय मनुष्यका रुधिर-पान करना कोई त्रासदायक बात नहीं मानी जाती थी, उस समयके विचारोंका चित्र इस स्थलपर दिया गया है।' इस तर्ककी सत्यतामें बहुत संशय है; फिर भी इस तर्कको यदि हम सत्यरूपमें स्वीकार करें तो इतना मानना ही पड़ेगा कि जिस समय ऐसे विचारोंका आस्तित्व था, वह समय सचमुच ही बहुत प्राचीन होना चाहिये। इस तर्कसे 'पाण्डव सचमुच ही हो गये हैं' यह बात स्वीकार करनी पड़ती है—ऐसा न मानें तो भी यह तो कहना ही पड़ेगा कि इस बातके स्वीकार करनेकी अपेक्षा कोई अधिक अच्छा परिणाम इससे नहीं निकलता।'

'इस प्रकरणका सार अब हम संक्षेपमें कहेंगे। घटित

घटनाओंका इतिहास लिखना वैदिक-साहित्यका उद्देश्य नहीं है, इसलिये इन ग्रन्थोंमें पाण्डवोंके विषयमें अथवा महाभारतके युद्धके विषयमें कोई उल्लेख नहीं हुआ तो इससे अनुमान नहीं किया जा सकता कि पाण्डव हुए ही नहीं अथवा महाभारतकी लड़ाई कभी हुई ही नहीं।

'इससे प्रमाणित होता है कि पाण्डव सचमुच हो गये हैं तथा महाभारतके युद्धमें भाग लेनेवाले भी (जनमेजय नहीं) पाण्डव ही थे।'

पाण्डवोंके पूर्वज

'मनुकी पुत्री इला और चन्द्रसे उत्पन्न क्षत्रिय चन्द्रवंशी कहलाते हैं। चन्द्रवंशके सबसे प्रथम राजा पुरूरवा हुए। पुरूरवा तथा उर्वशी नामक स्वर्गकी अप्सराके प्रेमकी कथा ऋग्वेदमें है, और कालिदासने अपने (विक्रमोर्वशी) नामक सुविख्यात नाटककी रचना करके इन दोनोंके प्रेमको अमर कर दिया है। इस वंशके दूसरे प्रसिद्ध राजा ययाति हुए। ययाति और उनकी दो रानियों, देवयानी और शर्मिष्ठाकी कथा महाभारतकी अत्यन्त रसमयी कथाओंमेंसे एक है और यह कथा यहाँ विस्तारपूर्वक देने योग्य है। चन्द्रवंशी क्षत्रिय सिन्धु नदीके उस पार राज्य करते थे, ऐसा ज्ञात होता है। क्योंकि असुरलोगोंके राजा वृषपर्वा (जो ईरानके राजा थे, यह ठीक-ठीक स्वीकार किया जाता है।) का राज्य ययातिके राज्यके समीप था, यह बात इस कथामें कही गयी है। शर्मिष्ठा ईरानके राजा वृषपर्वाकी पुत्री थी और देवयानी उनके गुरु शुक्रकी पुत्री थी। ये दोनों कन्याएँ एक बार वनमें घूमनेके लिये निकल पड़ीं और एक कुएँके पास स्नान करनेके लिये गयीं। उस समय भूलसे उनके वस्त्र अदल-बदल हो गये। ब्राह्मणकी पुत्री गर्वीली थी, वह राजकुमारीको मानो वह उसकी लौंड़ी हो इस प्रकार गाली देने लगी। इसपर राजकुमारी (शर्मिष्ठा) ने चिढ़कर उसको धक्का मारा और वह कुएँमें गिर गयी। अचानक राजा ययाति वहाँ जा पहुँचा और देवयानीकी चीत्कार सुनकर वह कुएँपर पहुँचा और उसको कुएँसे बाहर निकाला। इस उपकारके बदलेमें देवयानीने उससे ब्याह करनेकी अपनी इच्छा प्रकट की, और अपने पिताकी सम्मति लेकर देवयानीने ययातिके साथ ब्याह किया। मेरी सखी (शर्मिष्ठा) ने मेरा अपमान किया है, यह सोचकर देवयानीके हृदयमें वैर साधनेका विचार उठा। उसने दासीका काम करनेके लिये वृषपर्वासे शर्मिष्ठाको माँगा। वृषपर्वाको दूसरा उपाय न सूझा, इसलिये देवयानीकी यह अपमानयुक्त माँग भी उसने स्वीकार कर ली, और जिस लड़कीने अपराध किया था उसको उसने इस दम्पतिके हाथमें सौंप दिया।'

'देवयानीने उस लड़कीको ययातिके राजमहलमें वर्षों रक्खा, परंतु उसको जो उसने दण्ड दिया था वह उसके लिये वरदान हो जायगा, यह विचार देवयानीको स्वप्नमें भी न था। एक दिन वह सोयी थी, अचानक अपने पति-जैसे रूपवाले एक लड़केके आनेसे वह अचानक चौंक उठी। पता लगानेपर ज्ञात हुआ कि वह लड़का ययातिका था और शर्मिष्ठाके पेटसे पैदा हुआ था। यह समाचार सुनकर उसको बड़ा क्रोध आया और क्रोधमें पिताके पास जाकर पतिके अपराधका बदला लेनेकी प्रार्थना की। शुक्राचार्यने राजाको यह शाप दिया कि, 'जा, तू अकाल वृद्धावस्थाको प्राप्त हो जा।' इस प्रकार देवयानीने मूर्खतावश अपने शत्रुको हानि उठाने जाकर स्वयं अपना ही नुकसान किया और अन्तमें अपने पिताके पास जाकर प्रार्थना की कि 'इस शापकी उग्रता आप कम करें।' तत्पश्चात् शुक्राचार्यने कहा कि 'यह वृद्धावस्था दूसरा कोई लेनेके लिये तैयार हो तो दी जा सकेगी।' तब ययातिने अपने पुत्रोंसे एक-एक करके कहा कि 'तुम मेरी वृद्धावस्था स्वीकार करो।' परंतु पूरुके सिवा किसीने भी इसे स्वीकार न किया। पूरुसे प्राप्त किये यौवनके द्वारा ययातिने अनेकों वर्षोंतक इस जगत्के भोग-विलासका आनन्द उठाया। अन्तमें उसको ऐसा लगा कि—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥
यत्पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्॥

'कामनाओंके उपभोगसे कामनाका शमन कदापि नहीं होता बल्कि जिस प्रकार घृतादि हविष्यके पड़नेसे अग्नि सुदीप्त होती है उसी प्रकार भोगसे कामना और भी बढ़ती है। इस जगत्का सारा स्वर्ण, सारा अन्न, सारी स्त्रियाँ एक मनुष्यके लिये बस नहीं हो सकतीं, इसलिये इच्छाओंको वशमें रखकर संतोष धारण करना चाहिये।'

ययातिने अपने पुत्र पूरुको बुलाया और उसको उसका यौवन वापस कर दिया और अपना बुढ़ापा उससे वापस लेकर, प्राचीन भारतके प्रतिष्ठित राजाओंके समान अपनी दोनों रानियोंको साथ लेकर वनमें निवास किया। पूरुने पुत्रधर्मका यथार्थ पालन किया था, उसके बदलेमें उसको आशीर्वाद दिया और कहा कि राज्याधिकार पूरुके वंशको ही प्राप्त होगा।

ययातिकी कथासे उत्तम उपदेश प्राप्त होता है, उसके कारण यह कथा बहुत सुन्दर लगती है, परंतु इसके सिवा इतिहासकी दृष्टिसे भी यह कथा बहुत उपयोगी है। पहले तो हमने देखा कि उस समय चन्द्रवंशके आर्य लोग सिन्धुनदीके उस पार बसते थे। दूसरे, उस समय ब्राह्मण-क्षत्रियके बीच ब्याह-सम्बन्ध बिल्कुल साधारण बात थी।

तीसरे, ययातिके यदु, तुर्वसु, द्रुह्यु, पूरु और अनु—ये पाँच पुत्र थे। यदुके वंशज यादव, तुर्वसुके वंशज यवन, द्रुह्युके वंशज भोजलोग, पूरुके वंशज पौरव (जिनका पश्चात् भरत नाम पड़ा) और अनुके वंशज म्लेच्छ लोग थे। इस प्रकार इस कथासे ज्ञात होता है कि ययाति अनेकों जातियोंके पूर्वज थे। इनमें यादव, भोज और पौरव—ये तीन जातियाँ भारतमें प्रविष्ट हुईं। चौथी यवन जाति पश्चिम ओर चली गयी। यहाँ जिन नामोंका उल्लेख हुआ है, उनमें अदल-बदल हुआ हो, यह सम्भव है। कदाचित् अनुके वंशज यवन कहलाये हों। और ईरानियोंके तुरान तथा आधुनिक इतिहासके तुर्क—इन नामोंके साथ तुर्वसु नाम कुछ मिलता-जुलता है; अतएव सम्भव है कि तुर्वसुके वंशज म्लेच्छ कहे गये हों। वृद्धावस्था दूसरेको देनेकी जो बात है, उसको ऐतिहासिक दृष्टिसे इस प्रकारका साधारण रूप दिया जा सकता है:—'राजा ययातिने पर्याप्त वृद्ध होनेपर भी शायद देवयानीके पुत्रोंको राज्याधिकारमें भाग न लेने दिया होगा। ये लड़के अपनी माताके समान ही उद्धत होंगे। उन्होंने राज्याधिकार छोड़नेके लिये कहा होगा तथा उनको यह देखनेमें आया होगा कि यह वृद्ध अभी राज्य करनेमें समर्थ है और राज्याधिकार छोड़नेके लिये तैयार नहीं है, इसलिये उन्होंने उत्पात मचाया होगा। फलतः ययातिने उनको निकाल दिया होगा। और इस काममें उसके पुत्र पूरुने मदद की होगी। पुत्रधर्मका पालन करके अन्तमें उत्तराधिकार-के रूपमें पूरुको अपने पिताका राज्याधिकार प्राप्त हुआ होगा।'

'पूरुके वंशजोंमें पहला प्रसिद्ध राजा दुष्यन्त था। दुष्यन्त और शकुन्तलाकी कथा संस्कृत-काव्यके प्रत्येक पाठकको ज्ञात है; क्योंकि कालिदासके जिस सुन्दर नाटककी महाकवि गेटेने इतनी प्रशंसा की है, वह नाटक इस कथाके आधारपर ही प्रणीत हुआ है, परंतु महाभारतकी शकुन्तला और कालिदासकी शकुन्तलामें बड़ा अन्तर है। कालिदासने शकुन्तलाको एक सुघरी हुई और भीरु स्त्रीके रूपमें चित्रित किया है, परंतु महाभारतकी शकुन्तला ऐसी नहीं है। महाभारतकी शकुन्तलाको नीतिके गौरवका भान था। वह एक विशुद्ध हृदयकी ग्रामीण कन्या थी। अरण्यमें कण्वके आश्रमके सामने राजा दुष्यन्त अकस्मात् आ पहुँचे, उस समय शकुन्तलाके पालक पिता कण्व वहाँ मौजूद न थे। गान्धर्वरीतिसे राजा दुष्यन्तने उसके साथ ब्याह किया। इस विवाहका कोई साक्षी न था। कुछ वर्षोंके बाद अपने पुत्रको साथ लेकर और अरण्यके आश्रमको छोड़कर शकुन्तला अपने पतिकी राजधानीमें गयी। वहाँ भरी सभामें राजा दुष्यन्तने उसके साथ अपने ब्याहकी बात अस्वीकार कर दी, उस समय शकुन्तलाने कहा—'राजाकी अपेक्षा—यही क्यों, पुत्रकी अपेक्षा भी सत्य अधिक मूल्यवान् वस्तु है। और जो मनुष्य सत्यकी उपेक्षा करता है, वह यदि मेरा पति भी हो तो भी उसका सङ्ग मुझे नहीं चाहिये।' राजाने अपनी प्रजाको संतुष्ट करनेके लिये ही यह युक्ति की थी, परंतु 'शकुन्तला सचमुच ही दुष्यन्तकी स्त्री है'—यह आकाशवाणी हुई और राजाने शकुन्तलाको अपनी धर्म-पत्नीके रूपमें स्वीकार किया। नीति-बलसे युक्त कन्याके साथ स्नेह-परिणयके फलस्वरूप भरत नामके संतानकी उत्पत्ति हुई। आगे चलकर वह पूरुवंशका सबसे यशस्वी राजा माना गया। भारतमें गङ्गा-यमुनाके सङ्गमतकके प्रदेशको उसने जीत लिया था तथा वहाँ यज्ञ किया था, ऐसा कहा जाता है। शतपथब्राह्मणके १९ वें काण्डमें एक मन्त्रमें गङ्गा-यमुनाके सङ्गमपर इसके द्वारा किये गये अश्वमेध यज्ञ-की प्रशंसा की गयी है। इसके नामपर केवल इसके वंशजोंका ही नहीं, बल्कि सारे देशका नाम पड़ा था और आजतक संस्कृत-साहित्यमें भारतवर्षको 'भरतभूमि' नामसे ही पुकारा गया है।'

'भरतके वंशजोंमें हस्ती नामके एक राजा थे, उन्होंने गङ्गानदीके पश्चिमी किनारेपर हस्तिनापुर बसाया और वह हस्तिनापुर एक नये देशकी राजधानी बना। ऐसा जान पड़ता है कि भरतलोग धीरे-धीरे पंजाबको छोड़कर गङ्गानदीकी ओर बढ़ने लगे और हस्तीके प्रपौत्र कुरुने गङ्गा और यमुनाके दोआबेके ऊपरी भागमें आधुनिक दिल्लीके उत्तर और यमुनानदीके पश्चिमके उपजाऊ मैदानको 'कुरुक्षेत्र' नाम प्रदान किया। कुरुलोग अब बहुत अच्छी स्थितिमें आ गये। उनको तथा गङ्गाके पूर्व और कुछ दक्षिणकी ओर बसनेवाले पञ्चाललोगोंको ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें बहुत ही उन्नत और प्रतापी बतलाया है।'

'इस उपजाऊ तथा समृद्धिमान् भूदेशके ऊपर कुरुवंश-के जिन राजाओंने पीछे राज्य किया, उनकी हम पहले गणना कर चुके हैं। यहाँ इस वंशके विषयमें शन्तनु राजासे प्रारम्भ करके हम आगे चलेंगे। शन्तनु राजाको गङ्गानदीसे भीष्म नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। वह भीष्म महाभारतके एक अत्यन्त ही असाधारण पात्र थे। इस पुत्रके उत्पन्न होनेपर गङ्गानदीने राजा शन्तनुको त्याग दिया। उसके बाद राजा शन्तनुका प्रेम एक सत्यवती नामकी मत्स्यकन्याके साथ हो गया, परंतु सत्यवतीने कहा—'मेरे जो पुत्र होगा, उसको यदि राज्य देनेका तुम वचन दो तो मैं तुम्हारे साथ ब्याह करूँगी।' राजा शन्तनु यह शर्त मानकर भीष्मके राज्याधिकारको छीननेके लिये तैयार न थे, परंतु भीष्मने स्वयं ही अपने पिताको उलझनसे

मुक्त किया और अपने राज्याधिकारको त्याग दिया। इतना ही नहीं, बल्कि सत्यवतीको राजासे जो पुत्र उत्पन्न हो, उसके साथ लड़ाई करनेवाली संतान कहीं उत्पन्न न हो जाय, इस उद्देश्यसे स्वयं ब्याह न करनेकी दृढ़ प्रतिज्ञा की। इस प्रतिज्ञाका पालन उन्होंने अन्तिम समयतक किया, तथा अपने स्वार्थत्याग और धर्म-बुद्धिके कारण ऐसी उज्ज्वल कीर्ति सम्पादन की कि आजतक भारतके लोग इनके नामका उच्चारण अत्यन्त आदरपूर्वक करते हैं।'

'सत्यवतीसे शन्तनुको दो पुत्र हुए, उनमें एक बचपनमें ही मर गया। कुरुओंके राजाका पद शन्तनुके बाद उनके पुत्र विचित्रवीर्यको मिला। काशिराजकी दो कन्याओं—अम्बिका और अम्बालिकाको भीष्मने बलपूर्वक जीता और दोनोंका ब्याह विचित्रवीर्यके साथ करा दिया। तथापि वह पुत्रहीन होकर ही मृत्युको प्राप्त हुए। शन्तनुके साथ ब्याह होनेके पहले ही सत्यवतीको पराशरमुनिसे एक पुत्र उत्पन्न हुआ था और वह दूसरा कोई नहीं, बल्कि महाभारतके रचयिता तथा वेदोंकी व्यवस्था करनेवाले स्वयं व्यासजी थे।'

'अब भीष्मकी सम्मतिसे सत्यवतीने व्याससे अपने सौतेले भाई विचित्रवीर्यकी विधवाओंसे पुत्र उत्पन्न करनेके लिये कहा और इस प्रकार नियोगसे विचित्रवीर्यके धृतराष्ट्र और पाण्डु दो पुत्र हुए। एक दासीके पेटसे व्यासको तीसरा पुत्र विदुर पैदा हुआ। धृतराष्ट्र अन्धे थे, इस कारण कुछ समयतक पाण्डुने राज्य चलाया। पश्चात् पाण्डुने अरण्यमें निवास किया और वहाँ ही वह मृत्युको प्राप्त हुए। धृतराष्ट्रके विषयमें यह कहा जाता है कि इनकी स्त्री गान्धारी गन्धारके राजाकी पुत्री थी। उससे इनको सौ पुत्र हुए। उनमें दुर्योधन और दुःशासन मुख्य थे। इन्हीं लोगोंने पाण्डवों अथवा पाण्डुके पुत्रोंके साथ महाभारतका युद्ध किया था। राजा पाण्डुसे पाण्डवोंकी उत्पत्ति हुई थी। इस युद्धके तथा अन्यान्य रसमय और हृदय-द्रावक वर्णन महाभारतमें दिये गये हैं।'

द्रौपदीके पाँच पति थे या एक ?

(लेखक—पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा, शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्यानिधि, विद्याभूषण)

महाभारतमें यह उल्लेख है कि द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी थी। पर इस विषयमें विभिन्न विचारोंके महानुभावोंमें बड़ा मतभेद है। अतएव इस सम्बन्धमें कुछ विवेचन किया जाता है।

कई पाश्चात्त्य संस्कृतिसे प्रभावित, पर हिंदू प्राच्य संस्कृतिसे भी प्रेम रखनेवाले महाशय पाश्चात्त्योंके समक्ष अपनी प्राच्य संस्कृतिको अपने परिष्कृत प्रकारोंसे इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि उन पाश्चात्योंकी हमारी पौरस्त्य संस्कृतिपर श्रद्धा बढ़े। पर वे उनके स्वपरिष्कृत प्रकार अमौलिक होनेसे हमारे शास्त्र और इतिहासको सर्वथा विरूप कर दिया करते हैं। हम चाहते हैं कि ऐसे परिष्कार उनमें किये जायँ कि 'साँप भी मर जाय, लाठी भी न टूटे।'

आज हम उन्हीं पाश्चात्त्य संस्कृतिसे प्रभावित महाशयोंका द्रौपदीविषयक आख्यानपर उसके एकपतिकत्वार्थ किया हुआ परिष्कार-प्रकार उपस्थित करते हैं। उसके अनन्तर हम उसपर शास्त्राविरोधपूर्वक उसके एकपतिकत्वका प्रकार लिखेंगे। उन लोगोंका कथन प्रायः यह होता है—

द्रौपदीके एकपतिकत्वका सुन्दर प्रकार

''परमात्मा तथा प्रकृतिकी कृति विचित्र है। प्रकृतिके गुणोंकी विचित्रतासे ही जीवके स्वभावकी विचित्रता भी नैसर्गिक है। अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुसार सब वैसे-वैसे कार्योंमें व्यापृत हुआ करते हैं। तब किसने, कब, कैसे क्या किया, यह बात बिना आधार किसीके द्वारा सहसा नहीं जानी जा सकती। उसी आधारको प्रामाणिक विद्वान् 'इतिहास' शब्दसे कहा करते हैं। आर्योंका प्राचीनतम पुरावृत्त ऋग्वेदमें मिलता है, उसके बाद 'रामायण', फिर 'महाभारत' में मिलता है—यह सब लोग निर्विवाद मानते ही हैं। परंतु वर्तमान कालमें 'महाभारत' जिस रूपमें उपलब्ध है, उसमें जैसे न माननेयोग्य उपाख्यान वर्णित किये गये हैं, वे सभी आर्योंकी रीति, व्यवहार तथा धर्म आदिमें भारतीयों तथा पाश्चात्त्योंके मनमें संदेह उत्पन्न कर दिया करते हैं। बहुत क्या कहा जाय ! वे—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
(मनु० २। २०)

'पृथिवीमण्डलमें सभी लोग इस ब्रह्मर्षिदेशमें उत्पन्न ब्राह्मणसे अपना-अपना चरित्र सीखें' इस मनुकी उक्तिको भी खण्डित करवा दिया करते हैं।

पाठकगण पहले प्रातःस्मरणीयनामा द्रौपदीके पञ्चपतित्वको ही देखें—पतिव्रता वीराङ्गना द्रौपदी तथा संसारविश्रुत धर्मप्राण पाण्डवोंके चरित्रोंको—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।
(महा० १। १९०। २)

इत्यादि पद्यके साधारण अर्थको भी न जाननेवाले लोगोंने दूषित कर दिया है, इसमें विद्वान् ही प्रमाण हैं।

वस्तुतः द्रौपदी अर्जुनकी ही पत्नी थी, अर्जुनने ही स्वयंवरमें लक्ष्य वेधकर प्रतिज्ञानुसार द्रौपदीका वरण किया था। उसने भी अर्जुनको ही जयमालासे अलंकृत किया था। द्रुपदकी इच्छा भी द्रौपदी अर्जुनको ही देनेकी थी, जैसे कि 'महाभारत' में कहा गया है—

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः॥
(१। १८४। ८)

'राजा द्रुपदके मनमें सदा यही कामना थी कि मैं पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ द्रौपदीका विवाह करूँ, परंतु वे अपने मनोभावको प्रकट नहीं करते थे।' इसीलिये द्रुपदके मनोरथको जानकर युधिष्ठिरने धनुषसे लक्ष्यको नहीं वेधा, नहीं तो, वे भी समर्थ तथा ज्येष्ठ होनेसे अधिकारी थे। तभी युधिष्ठिरने अर्जुनसे ही द्रौपदीके साथ विवाहार्थ कहा था कि—

त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी·····················।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः॥
(१। १९०। ७)

'अर्जुन! तुमने द्रौपदीको जीता है। तुम अग्नि प्रज्वलित करो और विधिपूर्वक इस राजकन्याका पाणिग्रहण करो।'

'माता कुन्तीके वचनसे द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी बनी—यह बड़ा आश्चर्य है। जब कि माताकी वैसी इच्छा नहीं थी, तब ऐसा होना कैसे संगत हो सकता है? भीमसेन तथा अर्जुनने, द्रौपदीके लिये कुन्तीसे कहा था कि—'मातः! हम भिक्षा लाये हैं,' यह बात भी नहीं घट सकती। द्रौपदीको तो प्रतियोगितामें जीता गया था, भिक्षाकी तरह माँगा नहीं गया था, तब धर्मभीरु तथा सत्यवादी अर्जुन तथा भीमसेन द्रौपदीको झूठ-मूठ 'भिक्षा' कैसे कह सकते थे—यह बात विद्वानोंको सोचनी चाहिये।

'तो इसमें क्या रहस्य है? 'मातृदेवो भव' यह वैदिक आदेश है। 'प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' यह माताका वचन भी अवश्य कर्तव्य है। माताका आदेश यदि पाण्डव न मानें, तब भी प्रत्यवाय है, यदि उसे पालें तो अभूतपूर्व धर्मसंकट है। इधर व्याघ्र है, उधर नदी है। इस उभयतः पाशा-रज्जुने अल्पज्ञ तथा यथार्थताको न जाननेवालोंको मोहमें डाल दिया, जिससे उन्होंने मूल इतिहासमें कई काल्पनिक भाव निविष्ट कर दिये।

'केवल भारतवर्षमें ही स्त्रीका बहुपतित्व निन्दित नहीं, अपि तु अन्य देशोंमें भी निन्दित है। तब युधिष्ठिर आदिमें श्रीव्यासके वाक्योंमें एवं तात्कालिक सामाजिक रीतियोंमें वैसी सम्भावना नहीं हो सकती। तात्कालिक इतिहाससे भी स्त्रीका बहुपतित्व वा पञ्चपतित्व सिद्ध नहीं होता। ब्राह्मणग्रन्थोंमें स्त्रियोंके बहुपतित्वका निषेध तथा कारणवश पुरुषकी बहुत पत्नियोंका विधान स्पष्ट तथा सहेतुक प्रतिपादित किया गया है। जैसे कि—

'ऋक् च वा इदमग्रे, साम च आस्ताम्, 'सैव' नाम ऋगासीत्, 'अमो' नाम साम। सा वा ऋक् साम उपावदत्-मिथुनं सम्भवाव प्रजात्या इति (शतपथ० ८। १। ३। ५)

न इत्यब्रवीत् साम, ज्यायान् वा अतो मम महिमा—इति।·····'तस्माद् एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्या बह्वः सहपतयः। (गोपथ ब्राह्मण ३। २०, ऐतरेय ब्रा० ३। २३)

यहाँपर सामका तीन ऋचाओंसे विवाह-सा बताया गया है, परंतु एक स्त्रीके बहुतपतित्वका निषेध किया गया है।

'तब यह द्रौपदीका पञ्चपतित्वका उपाख्यान सर्वथा काल्पनिक प्रतीत होता है। इसीलिये पाँच इन्द्रोंकी कथाका वर्णन, शिवद्वारा पाँच पतियोंका वर देनारूप उपाख्यान, बहुत पतियोंवाली नालायनी आदिका चरित्ररूप दृष्टान्त, युधिष्ठिर आदिके द्रौपदीसे एक-एक पुत्रका वर्णन किया गया है, पर यह सब अवैयासिक, अभारतीय एवं अधार्मिक है—यह निस्संशय है।

इससे महाभारतीय सारा ही उक्त उपाख्यान असत्य नहीं है, केवल शब्दोंका अर्थ ठीक-ठीक नहीं जाना गया। जैसे आजकल भी कोई अर्थानभिज्ञ व्यक्ति 'स्वसुर्जारः शृणोतु नः'–(ऋ० ६ ५५। ५), 'स्वसुर्यो जार उच्यते' (ऋ० ६। ५५। ४) 'प्रजापतिः स्वदुहितृभ्यां दुराचचार' ब्राह्मणभाग तथा पुराणोंमें उषा-सूर्यका सभापति-सभासमितिरूप अर्थ न जानते हुए बहिन-उपपति, ब्रह्मा, उसकी लड़की—ऐसा अर्थ करते हुए स्वयं भी भ्रान्त रहते हैं, दूसरोंको भी भ्रममें डालते हैं, वैसे ही—'प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' यहाँपर भी भुज धातु पालनार्थक है, उपभोगार्थक नहीं। 'तुम सब मिलकर इस द्रौपदीरूप गृह-लक्ष्मीकी पालना करो।' यही कुन्तीका अभिप्राय था, जिसे आजकलके लोग नहीं समझ सके। 'भुङ्क्त' पद परस्मैपदका प्रयोग है, परस्मैपदमें पालन-अर्थ होता है, उपभोग नहीं। 'श्रिया वा एतद् रूपं यत् पत्न्यः (तै० ब्रा० ३। ९। ४। ७) यहाँपर पत्नीसे गृह-लक्ष्मी माना गया है। 'पा रक्षणे' धातुसे डति प्रत्ययमें निष्पन्न पति, शब्द भी पालनार्थक ही है, तब पाँचों पाण्डवोंने द्रौपदीका पतित्व-पालन स्वीकृत किया और माताका वचन अन्ततक पाला।

कई महोदय 'पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा' (शतपथ ब्रा० २। ६। २। १४) यहाँपर 'पतयः'में बहुवचन देखकर बहुपतित्व मानते हों, यह भी ठीक नहीं। 'जात्या-

व्यायामेकस्मिन् बहुमन्यतरस्याम् (पा० १।२।५८) इस सूत्रसे उक्त स्थलमें 'पति' शब्दमें बहुवचन जात्यभिप्रायसे है, व्यक्त्यभिप्रायसे नहीं । वस्तुतः युधिष्ठिर आदि पाँचों प्रत्येकमें पाँच रूपसे अवस्थित थे । वही एक ही अर्जुन युद्धमें स्थिर होनेसे 'युधिष्ठिर' थे, शत्रुके लिये भयानक होनेसे 'भीम' थे, नियोगसे उत्पन्न होनेसे कुल न होनेके कारण 'नकुल' थे, कृष्ण-सारथि, जो देव थे, उनसे युक्त होनेसे 'सहदेव थे; द्रौपदीका पति अकेला वीरवर अर्जुन ही था—यह निर्विवाद है, शेष सब रावणके दस सिरोंके समान, वा कुम्भकर्णकी छः मासकी नींदके समान रूपक या काल्पनिक हैं ।''

उपर्युक्त प्रकारका परिहार

यह अर्वाचीन विद्वानोंका कथन है । यह कल्पना साधारण लोगोंकी दृष्टिमें द्रौपदीको साध्वी या एकपतिका सिद्ध करनेके लिये है । इसके लिये हम इसकी स्तुति करते हैं, परंतु इसका आधार कल्पनामात्र तथा असत्य है, अतएव यह श्रद्धेय नहीं हो सकती ।

यदि 'किसने कब क्या, कैसे किया इत्यादिको जाननेके लिये आधार इतिहास है तो उस विषयमें उसीको पूछना चाहिये; निराधार तथा इतिहासकर्तासे विरुद्ध कल्पना प्रामाणिक कैसे हो सकती है ? इतिहासस्थित जो आचरण, वेदादि शास्त्रोंके वचनसे विरुद्ध हो, वह अवश्य ही अनादरयोग्य तथा अनाचरणीय तो हो सकता है, परंतु वेदादिसे विरुद्धता दीखनेपर भी इतिहासमें परिवर्तन करना कहाँतक उपयुक्त हो सकता है ? उसी इतिहासमें धर्मप्राण युधिष्ठिरकी द्यूतक्रीड़ा भी देखी गयी है, उसमें 'अक्षैर्मा दीव्यः' (ऋ० १०।३४।१३) यह वेदविरोध भी है । तो क्या वहाँ आलङ्कारिता ही सिद्ध कर दी जाय ? ऐसा करनेपर तो इतिहासका रूप ही विरूप हो जायगा, और बड़ी अव्यवस्था हो जायगी । इस प्रकार तो सम्पूर्ण इतिहास ही अलङ्काररूप बन जायगा, जैसा कि कई पाश्चात्य और पाश्चात्त्य-भावावेशित भारतीय विद्वान् बनाया करते हैं ।

वस्तुतः जैसे व्याकरणमें उदाहरण और प्रत्युदाहरण भी हुआ करते हैं, उत्सर्ग और अपवाद भी हुआ करते हैं, वैसे ही वेदके भाष्यरूप पुराणेतिहासमें भी वेदादिके सिद्धान्तों-के उदाहरण-प्रत्युदाहरण तथा उत्सर्ग एवं अपवाद भी हुआ करते हैं । तभी तो 'गौतमधर्मसूत्र' में कहा गया है—'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम् । न तु दृष्टोऽर्थो वरो दौर्बल्यात् ॥' (१।२) इसी प्रकार 'आपस्तम्बधर्मसूत्र' में भी कहा गया है—'दृष्टो धर्मव्यतिक्रमः साहसं च पूर्वेषाम्' (२।१३।७), 'तेषां तेजोविशेषेण प्रत्यवायो न विद्यते' (२।१३।८), 'तदन्वीक्ष्य प्रयुञ्जानः सीदत्यवरः' (२।१३।९)। इतिहास आचरणके लिये सर्वथा आदर्श नहीं है । इसीलिये इतिहास देखकर अपना आचरण नहीं बनाया जा सकता । आचरणका निर्माण तो धर्मशास्त्रका अनुसरण करके ही किया जाता है । इतिहास तो मुख्यतः लोकमें घटी घटनाओं-का वर्णन प्रस्तुत करता है, लोकव्यवहार-व्यवस्था धर्मशास्त्रके अधीन रहा करती है । इसीलिये न्यायदर्शनमें कहा गया है—यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य (वेदस्य), लोकवृत्तम् इतिहासपुराणस्य । लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः ॥ तत्र एकेन न सर्वं व्यवस्थाप्यते, इति यथाविषयम् एतानि प्रमाणानि इन्द्रियादिवत् इति (४।१।६२) । इसीलिये 'वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः' (मनु० २।१२) यहाँपर सत्पुरुषोंके आचारको तीसरे पदमें रखा गया है । धर्मलक्षणमें पूर्व-पूर्व ही पर-परकी अपेक्षा बलवान् होता है । अतः अर्वाचीन विद्वानोंका यह प्रयास व्यर्थ है । तथापि उनसे उपक्षिप्त विषयपर भी विचार किया जाता है । वे लोग—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे ।
(१।१९०।२)

—इस पद्यमें 'भुज्' धातुको परस्मैपद देखकर केवल उसके आधारपर कल्पनाका महल खड़ा करते हैं, परंतु उसका मूल शिथिल है, इसीलिये उस कल्पनाप्रासादको पाठकगण शीघ्र ही गिरता देखेंगे ।

उनका अभिप्राय यह है कि—

'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे'

यहाँपर भुङ्क्त यह परस्मैपद है । 'भुजोऽनवने' (पा० १।३।६६) इस पाणिनिके सूत्रसे 'पालन' अर्थमें ही परस्मैपद होता है, खाने तथा उपभोग अर्थमें तो आत्मनेपद होता है । जैसे कि 'वृद्धो जनो दुःखशतानि भुङ्क्ते' यहाँपर 'भुज' धातुका आत्मनेपदमें उपभोग अर्थ है । 'ओदनं भुङ्क्ते' यहाँपर खाना अर्थ है, इस कारण दोनों स्थलोंमें आत्मनेपद हुआ है, परंतु 'महीं भुनक्ति' इस परस्मैपदमें तो भुज् धातुका पालन अर्थ है, इस प्रकार प्रकृत 'महाभारतके' पद्यमें भी 'भुङ्क्त' यह परस्मैपदमें लोटके मध्यम पुरुषके बहुवचनका प्रयोग है । तब कुन्तीका यह अभिप्राय था कि 'तुम सब मिलकर इस द्रौपदीरूप गृहलक्ष्मीको 'भुङ्क्त' अर्थात् पालो, उसकी रक्षा करो । यहाँ उपभोग अर्थ नहीं हो सकता, अन्यथा 'भुङ्ग्ध्वम्' इस प्रकार आत्मनेपद होना चाहिये था ।

इस आशयपर हम विचार करते हैं । श्रीपाणिनिने अपनी 'अष्टाध्यायी' तथा 'गणपाठ' में उनके सहपाठी श्रीकात्यायनने अपने वार्तिकपाठमें जहाँ-तहाँ व्यास, शुक (४।३।९७) वासुदेव, अर्जुन (४।३।९८), युधिष्ठिर (८।३।

९५), साम्ब, गद, प्रद्युम्न, राम (४ । १ । ९६), अनिरुद्ध, नकुल, सहदेव (४ । १ । ११४) आदि महाभारतीय पात्रोंका नाम ग्रहण किया है। महान्''महाभारत (६ । २ । ३८) इस अपने सूत्रमें महाभारतका भी स्पष्ट नाम लिया है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदव्यास आदि पाणिनिसे पूर्वकालीन थे। इसके अतिरिक्त पाणिनीय व्याकरणसे पूर्व भी अन्य व्याकरण थे, यह बात अष्टाध्यायीमें उपलभ्यमान गार्ग्य, शाकटायन आदि नामोंसे जानी जाती है।

इससे स्पष्ट है कि अन्य व्याकरणमें पाणिनिसे विरुद्ध प्रयोग भी सम्भव है। इस प्रकार पाणिनिसे पूर्वकालीन मुनियोंकी पुस्तकोंमें भी अपाणिनीय प्रयोग हो सकते हैं, यह स्वाभाविक है। वे प्रयोग अशुद्ध नहीं माने जाते; किंतु यदि कोई अपाणिनीय प्रयोग पाणिनिसे अनुकूल न दिखायी पड़े तो वहाँ आर्ष मानकर उसका समाधान कर देना पड़ता है। परंतु जहाँ पाणिनिसे पूर्वोत्पन्न किसीके ग्रन्थमें बहुत स्थलोंपर पाणिनिसे विरुद्ध प्रयोग दिखलायी पड़े, तो वहाँ अनुमान करना पड़ता है कि तब पाणिनिसे अन्य कोई व्याकरण रहा हो, जहाँ पाणिनिका वह नियम स्वीकृत न किया गया हो अथवा वहाँ अनियम कर दिया गया हो। इसीलिये श्रीव्यास-के लिये माहेन्द्र व्याकरणके अवलम्बनको बतानेवाला एक पद्य प्रसिद्ध है—

यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवात्।
तानि किं पदरत्नानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥

इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पाणिनीय व्याकरणमें पर्याप्त न्यूनता है, यद्यपि उसकी शैली असाधारण है। पाणिनिसे पूर्वकालीन श्रीव्यासने ऐन्द्र-व्याकरणका आश्रय लिया, उसमें इस प्रकारके बहुत-से प्रयोग थे, जो पाणिनिव्याकरणसे सिद्ध नहीं होते, यह उक्त पद्यसे प्रतीत होता है।

फलतः पाणिनिसे पूर्वकालीन श्रीवेदव्यासके बनाये हुए 'महाभारत'में भी पाणिनिके नियमसे विरुद्ध प्रयोग अवश्य हो सकते हैं। जैसे कि—'महाभारत' शान्तिपर्वमें—

ततो मामाह भगवानास्यं स्वं विवृतं कुरु।
विवृतं च ततो मेऽऽस्यं प्रविष्टा च सरस्वती॥
(३१८ । ७)

यहाँ 'मेऽऽस्यम्'का 'मे आस्यम्' यह छन्द है। यहाँपर 'एङः पदान्तादति' (६ । १ । १०९) इस पाणिनिके सूत्रसे 'मेऽऽस्यम्'की सिद्धि कभी नहीं हो सकती; क्योंकि यहाँपर सामने 'ह्रस्व अकार' इष्ट है, किंतु उक्त पदमें दीर्घ आकार है, इससे स्पष्ट है कि श्रीपाणिनिके पूर्वज श्रीव्यासजीने इस संधिको या तो अन्य व्याकरणसे सिद्ध किया होगा, अथवा निरङ्कुशतावश उससे विरुद्ध प्रयोग किया होगा। इसी प्रकार प्रकृत विषयमें भी जानना चाहिये।

श्रीपाणिनिने 'भुज्' धातुको 'खाने' तथा 'उपभोग' अर्थमें ही आत्मनेपद किया है, 'पालन' अर्थमें तो उसने भुज् धातुको परस्मैपद ही किया है, परंतु पाणिनिसे पूर्वकालीन महाभारतमें तो स्वाभाविकतावश उस नियमकी अवहेलना हो सकती है, इस कारण उसमें भुज्धातुमें खाने तथा उपभोग अर्थमें आत्मनेपद भी हो सकता है, परस्मैपद भी। तो—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।

—इसमें जो कि 'भुजोऽनवने' इस पाणिनि-सूत्रके बलसे 'पालन-रक्षण' अर्थ ही किया जाता है, वह ठीक नहीं; क्योंकि पाणिनिसे पूर्वकालीन 'महाभारत'में उस नियमका अनुवर्तन कैसे होगा ?

इसके अतिरिक्त 'छन्दोवत् कवयः कुर्वन्ति' यह व्याकरण-की परिभाषा भी प्रसिद्ध है। वेदमें उपग्रह (परस्मैपद-आत्मनेपद) का व्यत्यय भी विख्यात ही है, तभी वहाँ कवि श्रीव्यासजीने 'भुङ्ग्ध्वम्'के स्थान 'भुङ्क्त' यह जोड़ दिया है। अन्य बात यह है कि अर्थमें दृष्टि रखनेवाले-का शब्ददृष्टिमें उतना आदर भी नहीं हुआ करता। इतिहास-पुराण 'अर्थप्रधान' प्रसिद्ध है, वेद 'शब्दप्रधान' तथा काव्य 'रस-प्रधान' प्रसिद्ध है। देखिये इसमें 'काव्यप्रकाश'का आरम्भ। इसी कारण अर्थदृष्टि रखनेवाले नैयायिकोंके लिये भी अतिशयोक्तिगर्भित यह प्रवाद प्रसिद्ध है—

'अस्माकूणां नैयायिकेषाम् अर्थरि तात्पर्यम् न तु शब्दरि', 'अस्माकूणामिति कथम् ? गुरूणामिति पथम्। नैयायिकेषामिति कथम् ? सर्वेषामिति पथम् ? शब्दरि कथम् ? छन्दसि इति पथम्। पथम्—इति कथम् ? कथम् इति पथम्।'

फलतः अर्थतात्पर्यवाले 'महाभारत'के वचनमें भी 'सर्वे समेत्य भुङ्क्त' इसका अर्थ व्याकरणका विरोध होनेपर भी खाने वा उपभोग अर्थात् उपयोगमें हो सकता है।

इसमें अन्य प्रमाण भी हैं। वह यह कि महाभारत-कारको जहाँ 'भुज्' धातुका खाना वा उपभोग अर्थ विवक्षित होता है, वे वहाँपर पाणिनिके अनुसार केवल आत्मनेपद नहीं करते, किंतु परस्मैपद भी करते हैं, आत्मनेपद भी जैसे कि—

यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम्।
(१९४ । ७)

यहाँपर भुज् धातुका परस्मैपद है। 'तदन्नम्' इस अन्न पदकी संनिधिसे कोई भी पुरुष यहाँ 'पालन' अर्थ नहीं कर सकता, किंतु खाना वा उपभोग अर्थ ही करना पड़ेगा।

पाणिनिके अनुसार तो यहाँ 'बुभुजिरे' प्रयोग हो सकता है, परंतु वैसा नहीं है—यह प्रत्यक्ष ही है। इससे हमारी कही बात ठीक सिद्ध हुई। इसी प्रकार 'भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' यहाँ परस्मैपद होनेपर भी रक्षण अर्थ नहीं है, किंतु खाना वा उपभोग—उपयोग अर्थ है। इससे स्पष्ट है कि श्रीव्यास-जी खाने वा उपयोग अर्थमें जहाँ-तहाँ आत्मनेपद भी देते हैं, परस्मैपद भी। इससे परस्मैपदमें भी भुज् धातुका भक्षण वा उपभोग अर्थ सम्भव है। इस प्रकारके महाभारतके अन्य भी प्रयोग दिखलाये जा सकते हैं।

हमारे पास केवल यही अमोघ अस्त्र नहीं है कि श्रीव्यास-जी पाणिनिसे विरुद्ध प्रयोग भी करते हैं, प्रत्युत उसमें प्रकरण भी हमारे पक्षका अनुग्राहक है। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' यह न्याय भी प्रसिद्ध है। शब्द जिस उद्देश्यसे प्रयुक्त किया जाता है, वही उसका अर्थ हुआ करता है। तब वहाँ ग्रन्थकारको भी पालन अर्थ इष्ट नहीं है, उस वाक्यका प्रयोग करनेवाली कुन्तीको भी वहाँ पालन अर्थ इष्ट नहीं है, कुन्तीके वाक्यके अर्थको जाननेवाले युधिष्ठिर आदिको भी वहाँ पालन अर्थ इष्ट नहीं है, और फिर 'पालन' अर्थ करनेसे वैसा आशय बतानेवालोंकी कोई इष्ट-सिद्धि भी नहीं है—यह आगेके विवेचनसे सिद्ध हो जायगा।

पूर्वपक्षवाले सज्जन अपने पक्षकी पुष्टिमें—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।
(१९०।२)

इस पाठको तो उद्धृत करते हैं, परंतु उसका पूर्वापर प्रकरण स्पष्टतया नहीं दिखलाते, जिससे अर्थका अनर्थ हो जाता है। अब वह प्रकरण दिखलाया जाता है, जिससे पूर्वपक्ष असिद्ध हो जाता है। आदिपर्वके १९० वें अध्यायका यह प्रथम पद्य है—

गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ॥ १ ॥

इसका आशय यह है कि भीमसेन और अर्जुन द्रौपदीको अपने साथ लाकर प्रतिदिनकी तरह कहने लगे कि—मातः! हमलोग भिक्षा लाये हैं। 'प्रतिदिनकी तरह' कहनेका यह आशय है कि—वे प्रतिदिन भिक्षा लाकर कुन्तीको दिया करते थे, जैसे कि—

चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते।
निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्षं सदा निशि।
(१।१५६।४-५)

पूर्व उद्धृत पद्यके आगे ही यह पद्य है—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।
(१९०।२)

इसका यह अर्थ है कि—कुन्ती कुटीके अंदर थी, उसने भिक्षा लेकर आये हुए पुत्रों—भीम-अर्जुनको नहीं देखा, इस कारण उनके साथ लायी हुई विशिष्ट भिक्षा द्रौपदीको भी नहीं देखा, इसलिये वह सदाकी भाँति भिक्षा जानकर [क्योंकि वह कुन्ती भी उनको भिक्षाके लिये गये हुए और बहुत देर बीत जानेपर भी उनको न आया देखकर उनकी प्रतीक्षा कर रही थी। जैसे कि—

अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्षकालेऽभिगच्छति।
(१८९।४४)]

—उनको सदाकी तरह कहने लगी कि तुम सब मिलकर 'भिक्षां भुङ्क्त' भिक्षाका भोग—खाओ वा उपभोग करो।

क्या यहाँपर कोई मान सकता है कि कुन्तीको यहाँपर प्रतिदिन आनेवाली भिक्षाकी 'रक्षा' अभीष्ट थी ? नहीं-नहीं, किंतु भिक्षाका उसको पूर्वकी भाँति उपभोग—उपयोग ही इष्ट था। इसके बाद उक्त पद्यका उत्तरार्ध यह है, जिसे पूर्वपक्षवाले जनताकी दृष्टिमें नहीं लाते—

पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥
(१९०।२)

इसका यह अर्थ है कि—जब कुन्तीने भिक्षाके रूपमें द्रौपदीको कुटीसे बाहर आकर देखा, तो पछताकर कहने लगी—'हा खेद! मैंने यह क्या कह दिया ?' यदि उस कुन्तीको वस्तुतः ही 'भुङ्क्त' का अर्थ पालो अभीष्ट होता, तब उसे पछतानेका क्या अवसर था ?

आगे तो इससे भी स्पष्ट कहा है—

साधर्मभीता परिचिन्तयन्ती तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम्।
पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम् ॥
(१९०।३)

कुन्ती अधर्मके भयसे भीत हो गयी। द्रौपदी बहुत प्रसन्न थी। कुन्ती देवी द्रौपदीका हाथ पकड़कर युधिष्ठिरके पास गयी और उनसे कहा। इस पद्यमें 'सा कुन्ती अधर्मभीता' यह पद भी 'भुङ्क्त' का 'पालो' यह अर्थ हटा रहा है, अन्यथा वह यदि अपने पुत्रोंको द्रौपदीके पालनार्थ कहना चाहती थी, तब यहाँ 'अधर्म' क्या था ? भिक्षाका वा द्रौपदीका सबके द्वारा पालन अधर्म नहीं था। अथवा—यदि कुन्तीको भिक्षाका भी 'रक्षण' इष्ट था, फिर द्रौपदीको देखकर उसका भी 'रक्षण' अर्थ इष्ट था, तो उसे अनृत-भाषणरूप अधर्मसे कोई भय नहीं था; क्योंकि यह एक प्रसिद्ध न्याय है—'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' शब्द जिस लक्ष्यसे कहा गया है, वही उसका अर्थ हुआ करता है।

इससे स्पष्ट है कि—कुन्तीको 'भुङ्क्त' का 'संरक्षण' अर्थ

नहीं, किंतु उपभोग-उपयोग अर्थ ही इष्ट था। यदि भिक्षा साधारण होती, तब तो सबके द्वारा उसका उपभोग-उपयोग करनेपर भी कोई अधर्म नहीं था, अपितु धर्म ही था, परंतु जब उस कुन्तीने भिक्षारूपमें द्रौपदीको देखा, तब सोचा कि—यदि इस द्रौपदीका सभी उपभोग-उपयोग करें, अर्थात् सभी उसके पति हो जायँ, तब तो अधर्म ही होगा; क्योंकि सुना जाता है—

'एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्या बहवः सहपतयः।
(गोपथब्रा० ३।२०; ऐत० ब्रा० ३।२३)

यदि मैं (कुन्ती) 'भुङ्क्त' यह भिक्षाके लिये कहकर द्रौपदी-रूप भिक्षाके लिये अन्य प्रयोगको—चाहे वह समान आकार-का पर भिन्नार्थक हो—करूँगी, तो असत्यका प्रसंग हो जानेसे अधर्म होगा; क्योंकि 'अर्थभेदसे ही शब्दभेद हुआ करता है। शब्दभेद हो जानेपर दो बार भिन्न-भिन्न बातें हो जानेसे असत्य उपस्थित हो जाता है। इस प्रकार असमंजसमें पड़ी हुई कुन्ती ही 'भुङ्क्त' इस शब्दका उपभोग अर्थ सिद्ध कर रही है—यह अत्यन्त स्पष्ट है।

इसी कारण आगे उसने युधिष्ठिरके सामने स्वयं अपना प्रमाद स्वीकार किया है। जैसे कि—

इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञः तवानुजाभ्यां मयि संनिविष्टा।
यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं समेत्य भुङ्क्तेति नृप प्रमादात्॥
(१९०।४)

कुन्तीने कहा—'युधिष्ठिर! यह द्रुपदराजकन्या द्रौपदी है। तुम्हारे छोटे भाई भीम और अर्जुनने इसे भिक्षा कहकर मुझे समर्पित किया और मैंने भी भूलसे अनुरूप उत्तर दे दिया कि-तुम सब मिलकर इसको उपभोग करो। यहाँपर 'प्रमादात्' यह शब्द 'भुङ्क्त'का उपभोग अर्थ ही कुन्तीको विवक्षित था, 'रक्षण' अर्थ नहीं—यह स्पष्ट कह रहा है; क्योंकि किसी स्त्रीकी रक्षार्थ आज्ञा देना प्रमाद नहीं हो सकता। उपभोग अर्थ होनेपर तो एक स्त्रीके साथ बहुतोंका उपभोग अशास्त्रीय होनेसे उस कुन्तीकी दृष्टिमें प्रमाद स्पष्ट ही है; क्योंकि वह पाण्डवोंके गत जन्मका वृत्त नहीं जानती थी। इसलिये वह उसे अधर्म जानती हुई युधिष्ठिरको फिर कहने लगी—

मया कथं नानृतमुक्तमद्य भवेत् कुरूणामृषभ ब्रवीहि।

'कुरुश्रेष्ठ! बताओ, अब मेरी बात झूठी न हो।' 'ब्रवीहि' यह प्रयोग भी पाणिनिसे विरुद्ध है—यह बात भी पूर्वपक्षियोंको याद रखनी चाहिये।—

'पाञ्चालराजस्य सुतामधर्मो न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च॥
(१९०।५)

जिससे इस पाञ्चालराजकन्याको न तो पाप लगे, न नीच योनिमें भटकना पड़े। इस कुन्तीके वाक्यसे भी हमारा पक्ष सिद्ध होता है।

ग्रन्थकारको भी यही उपभोग अर्थ 'भुङ्क्त' का इष्ट है; क्योंकि वह अपने पात्रके द्वारा अपने अभिलषित अर्थको ही कहलवाता है। अथवा ग्रन्थकारका अपना अभिलषित अर्थ हो ही क्या सकता है? उसे तो इतिहासके सम्पादक होनेसे वही लिखना है जो कि इतिहासमें हो चुका है। 'इति ह आस—इतिहासः' हो चुके हुएका नाम इतिहास होता है। तब वह उसके परिवर्तनमें अधिकारी ही कैसे हो सकता है? इस प्रकार पूर्व समयमें द्रौपदीका पाँचों पाण्डवोंके साथ विवाह हुआ, तभी तो इतिहासके सम्पादक श्रीकृष्णद्वैपायनने उसमें ग्रन्थबद्ध किया।

अब फिर प्रकरणपर आना चाहिये। युधिष्ठिर आदिको भी मातासे कहे हुए 'भुङ्क्त' पदका उपभोग ही अर्थ इष्ट है। इसीलिये युधिष्ठिरने द्रुपदको कहा था—

सर्वेषां महिषी राजन् द्रौपदी नो (—अस्माकं पञ्चानां) भविष्यति।
एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशाम्पते॥
(१९४।२३)

एष नः समयो राजन् रत्नस्य सहभोजनम्।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम॥
सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम्।
न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम्॥
(१९४।२५, २९-३०)

'राजन्! द्रौपदी हम सभी भाइयोंकी पटरानी होगी, मेरी माताने पहले ही हम सब लोगोंको ऐसी ही आज्ञा दे रक्खी है। महाराज! हमलोगोंमें यह शर्त हो चुकी है कि दानको हम सब बाँटकर एक साथ उपभोग करेंगे। हे राजसत्तम! हम अपनी उस शर्तको छोड़ना नहीं चाहते। महाराज! धर्मका स्वरूप अति सूक्ष्म है। हम उसकी गतिको नहीं जानते।××मेरी वाणी कभी मिथ्या नहीं बोलती और मेरी बुद्धि कभी अधर्ममें नहीं लगती। हमारी माताने हमें ऐसा ही करनेकी आज्ञा दी है और मेरे मनमें भी यही उचित जँचता है।' 'मम चैतन्मनोगतम्' की व्याख्या 'सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः'। (अभिज्ञान-शाकुन्तल १।२३) इन कालिदासके शब्दोंमें समझना चाहिये।

इस प्रकार युधिष्ठिरने श्रीव्यासजीको भी कहा था—

गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम।
गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः॥
(१९५।१६)

'धर्मज्ञश्रेष्ठ व्यासजी ! गुरुजनोंकी आज्ञाको धर्मसंगत बताया गया है और समस्त गुरुओंमें माता परम गुरु मानी गयी है ।

सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्षवद् भुज्यतामिति ।
तस्मादेतदहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम ॥
(१९५ । १७)

हमारी उस माताने कहा है कि तुम सब लोग भिक्षाकी भाँति इसका उपभोग करो, अतः द्विजश्रेष्ठ ! हम सबके साथ होनेवाले विवाहको हम परमधर्म मानते हैं ।

यह वचन युधिष्ठिरने जो कहा, उसका कारण यह है कि—'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया' (रघुवंश १४ । ४६) 'अमीमांस्या गुरवः' (चाणक्यसूत्र ४२१) अर्थात् गुरुओंकी बातपर विचार नहीं करना चाहिये । यदि कोई उनकी आज्ञा अनुचित भी है, तो उसका उत्तरदायित्व उनपर होगा, उसका पाप-पुण्य उन्हें ही होगा, हमें नहीं । इसीलिये 'तैत्तिरीयोपनिषद्'में कहा है—'मातृदेवो भव' (१ । ११ । १२) ।

इससे पूर्व युधिष्ठिरने जो कि—

त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी
त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री ।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह
गृहाण पाणिं विधिवद् त्वमस्याः ॥
(१९० । ७)

अर्जुनको यह कहा था कि द्रौपदीको तुम ही जीत लाये हो, अतः तुम ही इससे विवाह करो, यह कथन अर्जुनकी परीक्षाके लिये हो सकता है । तभी तो अर्जुनने 'मातृदेवो भव' (तै० १ । ११ । २) इस वैदिक आदेशके अनुसार कहा था कि—

'मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं
कृथा न धर्मोऽयमशिष्टदृष्टः ।
भवान् निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं
भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा ॥
अहं ततो नकुलोऽनन्तरं मे
पश्चादयं सहदेवस्तरस्वी ।
(१९० । ८-९)

अर्थात् हम सब ही माताकी आज्ञाके अनुसार इसके स्वामी बनेंगे । इस प्रकार अर्जुनकी परीक्षाके समाप्त होनेपर युधिष्ठिरने भी स्वयं इसका अनुमोदन किया और कहा—

सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ॥
(१९० । १६)

'कल्याणमयी द्रौपदी हम सब लोगोंकी भार्या बनेगी ।' कुन्तीने भी युधिष्ठिरकी तरह ही श्रीव्यासदेवको कहा—

एवमेतद् यथा प्राह धर्मचारी युधिष्ठिरः ।
अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येऽहमनृतात् कथम् ॥
(१९५ । १८)

धर्मका आचरण करनेवाले युधिष्ठिरने जैसा कहा है, वह ठीक है । मुझे झूठसे बड़ा भय लगता है । बताइये—मैं झूठसे कैसे बचूँगी । इससे स्पष्ट है कि—'भुङ्क्त' का ग्रन्थकारके मतमें, कुन्तीके मतमें तथा युधिष्ठिर आदिके मतमें समान ही 'उपभोग' अर्थ है । पूर्वपक्षवालोंके अनुसार 'रक्षण' अर्थ माननेपर भी कोई लाभ नहीं, तब तो वह द्रौपदी सब पाण्डवोंसे मिलकर ही संरक्षणीय ही हो जायगी । उसके साथ 'प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' इस पूर्वपक्षवालोंसे सम्मत माताकी आज्ञाको सूचित करनेवाले वचनके अनुसार अर्जुन भी विवाह नहीं कर सकेगा । वह भी सारी आयु उसे पाल ही सकता है, न उसका उपयोग कर सकता है, न उससे पुत्र ही उत्पन्न कर सकता है; क्योंकि कुन्तीका यह आदेश अर्जुनके लिये कुछ विशेषता नहीं बतलाता, किंतु सभीका द्रौपदीके साथ समान ही व्यवहार कहता है ।

अथवा यदि कुन्ती पाण्डवोंको 'भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे' (१९३ । २) यह वचन न कहती, तो क्या अर्जुनके साथ विवाही हुई भी उसकी रक्षा सभी भाई न करते ? अवश्य करते । इस कारण पूर्वपक्षवालोंकी यह कल्पना कोई महत्त्व नहीं रखती, अतः उसका यह कल्पना-प्रासाद यहाँ गिर पड़ा है, यह पाठकोंने देखा होगा ।

पूर्वपक्षवालोंने 'तैत्तिरीय'के प्रमाणसे पत्नीको 'गृहलक्ष्मी' बताया है, तब जब उनके मतके अनुसार कुन्ती द्रौपदीको सबकी 'गृहलक्ष्मी' बनाना चाहती है और उसके पालनका आदेश देती है, जब पूर्वपक्षवालोंके अनुसार युधिष्ठिर आदि पाँचों प्रत्येकमें पञ्चभावसे रहते थे, तो वह भी सबकी वास्तविक पत्नी थी, वे भी उसके वास्तविक पति सिद्ध हुए, क्योंकि पूर्वपक्षके अनुसार पाँचोंका पञ्चत्व एक दूसरेमें है ।

जो कि यह कहा जाता है कि कल्पना करनेवालोंने मूलमें स्वसम्मत भाव मिला दिये सो यह बात प्रमाणहीन है, नहीं तो; महाभारतमें अग्निसे प्रकट हुई द्रौपदीको भी कल्पित मान लेना पड़ेगा । द्रौपदीकी तरह अन्य स्त्रियाँ भी कुरुवंशमें उस समय तीन-चार पतियोंवाली क्यों नहीं दिखलायी गयीं ? दुर्योधनकी स्त्री भानुमती भी सौ भाइयोंकी स्त्री क्यों नहीं बतायी गयी ? इससे स्पष्टतया यह 'अपवाद' है ।

इधर पद्यका—

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।
(१९० । २)

इसका पूर्वार्ध वास्तविक मानकर—

'पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां कष्टं मया भाषित-मित्युवाच।'
(१९० । २)

उसके उत्तरार्धको काल्पनिक मानना पूर्वपक्षवालोंका अर्धजरतीय न्यायका अवलम्बन करना है। यदि पूर्वार्ध ही अनालङ्कारिक वा अप्रक्षिप्त वा वास्तविक है, इसीलिये उद्धृत किया जाता है, उसीसे अपने पक्षकी पुष्टि समझी जाती है, तो वह भी हमारे पक्षकी परिपुष्टि करता है—यह बात विज्ञ पाठक देखें।

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे।

यही पूर्वपक्षसम्मत पूर्वार्ध है। इसमें 'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ' ये पद साभिप्राय हैं। कुटीमें होनेसे, और पुत्रों (भीम, अर्जुन) को न देखनेसे ही कुन्तीने उक्त प्रमाद किया, यह बात उक्त पदोंसे सिद्ध होती है, नहीं तो, 'कुटीगता सा' 'पुत्रौ अनवेक्ष्य' इन पदोंके कहनेकी आवश्यकता ही नहीं थी; क्योंकि इन पदोंके असाभिप्राय होनेसे अपुष्ट दोष उपस्थित हो जाता है। इधर इस पद्यसे पूर्वके पद्यमें प्रतिदिनकी भिक्षाका संकेत किया गया है, उधर इस पद्यमें कुन्तीके कुटीमें होनेसे उसके द्वारा पुत्रोंको न देखना कहा है, तब उस भिक्षाका कुन्तीद्वारा कहे हुए 'भुङ्क्त' इस पदसे प्रतिदिनकी तरह 'उपभोग' अर्थ ही अभीष्ट है, 'संरक्षण' अर्थ नहीं। प्रतिदिनकी भिक्षाका 'संरक्षण नहीं होता था, किंतु परस्पर यथाविभाग उपभोग ही किया जाता था।

हाँ, यदि कुन्तीके द्वारा पुत्रोंका अनवेक्षण न होकर अवेक्षण-दर्शन होता, भिक्षाकी विलक्षणताका भी उसे ज्ञान होता, तब कुन्ती अवश्य यह न कहती। अतः 'भुज्' धातु यहाँ 'पालनार्थक है' तुम सब मिलकर इस द्रौपदीरूप गृहलक्ष्मीको पालो, यह कुन्तीका अभिप्राय था, यह पक्ष सिद्ध नहीं हुआ। इसमें उसी पूर्वपक्षवालोंसे उद्धृत, अप्रक्षिप्त तथा अनालङ्कारिक पद्यके 'कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ' इस प्रथम पादमें आये हुए 'कुटीगता' 'अनवेक्ष्य पुत्रौ' ये ग्रन्थकारके पद प्रमाण हैं।

तात्पर्य यह है कि— यदि कुन्ती कुटीसे बाहर होती, भिक्षाको भी वह देख लेती, तब तो कुन्तीको 'उपभुङ्क्त' वही अर्थ विवक्षित होता, जो पूर्वपक्षवाले करते हैं, पर अब जब कुन्ती कुटीमें है, उसने पुत्रोंके साथकी भिक्षा भी नहीं देखी, तब किसी भी युक्तिसे कुन्तीका वह अभिप्राय कल्पित नहीं हो सकता। उसी कारण पूर्वपक्षवालोंको बलात् इस अभिप्रायको दिखलानेके लिये अर्थ 'करनेके अवसरपर अपने दिये हुए इस पद्यका प्रथमपाद लोकदृष्टिसे छिपाना पड़ जाता है। प्रथमपादके सामने रखनेपर वे अपने कहे हुए उक्त अभिप्रायको कदापि नहीं निकाल सकते। पूर्ण श्लोकके चार पादोंमें उन्हें केवल दूसरा पाद ही अपना अभिप्रेत अर्थ सिद्ध करनेके लिये लोकदृष्टिमें रखना पड़ता है। अब इस पादके शेष तीन पाद कौन-से हैं—यह बताना उनका कर्तव्य रह जाता है।

कई अन्य महाशयोंका यह अभिप्राय है कि—'जब अर्जुनने मत्स्यवेध किया था, तब धर्मसे वह द्रौपदीका पति हो गया, तब युधिष्ठिरका अनुजवधूके साथ सम्बन्ध कैसे युक्त हो सकता है?' इसपर जानना चाहिये—यदि मत्स्यवेधनमात्रसे अर्जुन पति तथा द्रौपदी पत्नी होती, तो उसके बाद विवाहकी आवश्यकता क्यों होती? जैसे कि युधिष्ठिरने कहा था कि "त्वया जिता पाण्डव याज्ञसेनी"..

प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः।"
(१९। ७)

इससे स्पष्ट है कि विवाह ही पति-पत्नीत्वका साधक होता है। वह कुन्तीके पूर्ववचनसे द्रौपदीका सब पाण्डवोंसे भिन्न-भिन्न हुआ, केवल अर्जुनसे ही नहीं हुआ। तब वह पत्नी भी पाँचोंकी हुई, एकमात्र अर्जुनकी नहीं।

एक यह भी प्रश्न सम्भव है कि—'विवाहिता कन्या नहीं रह जाती, तब युधिष्ठिर आदिसे विवाहित हुई, उसका अकन्या होनेसे भी भीम आदिसे विवाह कैसे हुआ?' इसमें यह जानना चाहिये कि यह अपवादस्थल है; क्योंकि—वह विवाहित भी पुनः कन्याभावको प्राप्त कर लेती थी। जैसे कि 'महाभारत'में कहा गया है—

'क्रमेण चानेन नराधिपात्मजाः' (भीमार्जुननकुलसहदेवाः)
वरस्त्रियास्ते जगृहुस्तदा करम्।
अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो महारथाः कौरववंशवर्धनाः॥
(१। १९७। १३)

इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं
जगाद देवर्षिरतीतमानुषम्।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा
बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि॥
(१। १९७। १४)

क्रमसे कौरववंशकी वृद्धि करनेवाले, उत्तम शोभा धारण-करनेवाले महारथी राजकुमार पाण्डवोंने एक-एक दिन परम-

सुन्दरी द्रौपदीका पाणिग्रहण किया। देवर्षि नारदने वहाँ घटित हुई इस अद्भुत उत्तम और अलौकिक घटनाका वर्णन किया है कि 'सुन्दर कटिप्रदेशवाली महानुभावा द्रौपदी प्रतिबार विवाहके दूसरे दिन कन्याभावको प्राप्त हो जाती थी।'

दिव्यदृष्टि श्रीव्यासजीने अग्निसे उत्पन्न दिव्य कन्या द्रौपदीके कन्यात्वको दिव्यदृष्टिसे देख लिया, अतएव उन्होंनें वैसा लिखा। तब इस प्रकार अलौकिक होनेसे द्रौपदीका विवाह सामान्य विवाहका विषय नहीं, अतः यह अपवादस्थल ही जानना चाहिये। न तो यह दूसरेसे अनुकरणीय ही है और न यह प्रथा ही उस समय प्रचलित थी।

यह जो कहा जाता है कि 'कृष्णा तो प्रतियोगितामें जीती गयी थी, भिक्षाकी तरह नहीं माँगी गयी थी। तब धर्मभीरु एवं सत्यवादी अर्जुन अथवा भीम द्रौपदीको 'भिक्षा' शब्दसे कैसे कह सकते थे?' इसपर जानना चाहिये कि क्षत्रिय होनेसे उन्हें भिक्षाका अधिकार ही नहीं था, तब वे भिक्षाके लिये ही कैसे जाते थे? वस्तुतः यहाँ रहस्य यह है कि पाण्डवोंने लाक्षागृहसे अपने-आपको बचाकर तब दुर्योधनको प्रतारित करनेके लिये ब्राह्मणका रूप धारण कर लिया था। ब्राह्मण-रूपको ही प्रसिद्ध करनेके लिये वे भिक्षाका अभिनय करते थे, जिस किसी भी लायी हुई वस्तुको 'भिक्षा' शब्दसे पुकारा करते थे। इसीलिये 'महाभारत'में कहा है—

तत्र भैक्षं समाजह्रुर्ब्राह्मणीं वृत्तिमाश्रिताः।
तान् सम्प्राप्तांस्तथा वीराञ्जज्ञिरे न नराः क्वचित्॥
(१।१८४।७)

वहाँ ब्राह्मणवृत्तिका आश्रय ले वे भिक्षा माँगकर लाते थे। इस प्रकार वहाँ पहुँचे हुए पाण्डववीरोंको कोई भी मनुष्य पहचान न सके। यहाँ स्पष्ट है कि उन्होंने भिक्षाको अपने छिपानेका साधन बनाया था। ब्राह्मणरूपकी प्रसिद्धिमें ही अर्जुन आदिने द्रौपदीको प्राप्त किया था। भार्गवकी कर्मशालामें प्राप्त होकर जनदृष्टिमें अपने-आपको ब्राह्मण परिचायित करनेके लिये ही जैसे वे प्रतिदिन 'हम भिक्षा लाये हैं' यह कहा करते थे, वैसे ही द्रौपदीके लानेके दिन भी कुटीसे बाहर ही उन्होंने ऊँचे स्वरसे 'हम भिक्षा लाये हैं' यह कहा। यह सब कुछ 'चारैः पश्यन्ति राजानः' इस नीतिसे राजा दुर्योधनकी दृष्टिमें (क्योंकि वे लोग भी वहाँ उपस्थित थे) अपने छिपानेके लिये था। तभी दुःशासनने भी पीछेसे कहा था—

यद्यसौ ब्राह्मणो न स्याद् विन्देत द्रौपदीं न सः।
(२०२।११)

अर्थात् यदि अर्जुनने ब्राह्मणको रूप [illegible] होता, तब वह द्रौपदीको न पा सकता।

अर्जुन 'धर्मभीरु' तथा सत्यवादी'—ये दो विशेषण अपने पक्षके सिद्ध करनेके लिये ही दिये गये मालूम होते हैं। परंतु अर्जुन आदि इस अपने ब्राह्मणत्वको परिचायित करनेके लिये आपत्कालकी नीतिके अनुसार सर्वत्र असत्य ही बोलते थे। तभी जब ब्राह्मणवेषधारी अर्जुनने लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको जीता था, तब कर्ण आदि-आदि उससे युद्ध करने लगे। उस समय कर्णने उससे पूछा कि—'तुम ब्राह्मण हो वा कोई अन्य?'

तमेवंवादिनं तत्र फाल्गुनः (अर्जुनः) प्रत्यभाषत।
ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठ सर्वशस्त्रभृतां वरः।
(१।१९२।२०-२१)

सर्वशस्त्रभृतां वरः। (१।१९०।२०-२१)

यहाँपर बताना चाहिये कि—'धर्मभीरु' और 'सत्यवादी' अर्जुनने अपने आपको ब्राह्मण सत्य कहा वा असत्य?

एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णो न्यवर्तत।
ब्राह्मं तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः॥
(१८९।२२-२३)

यह असत्य भाषण अपने ब्राह्मणत्वके परिचायित करनेके लिये दुर्योधनकी दृष्टिमें (क्योंकि वे लोग भी वहाँ उपस्थित थे) अपने-आपको छिपानेके लिये था। जब द्रौपदीको जीतकर वे घरमें ले गये, तब कुटियासे बाहर ही उन्होंने ऊँचे स्वरसे (क्योंकि कुन्ती उस समय अंदर थी) 'भिक्षा लानेके' शब्दका उच्चारण किया, तब अनुसंधानके लिये आये हुए लोगोंने उन्हें 'भिक्षा' शब्दसे वास्तविक ब्राह्मण माना। सायंकाल वे फिर भिक्षा माँगनेके लिये गये। जैसे कि—

सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी
जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ।
भैक्षं चरित्वा तु युधिष्ठिराय
निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः॥
(१।१९१।३)

सन्ध्या होनेपर शत्रुओंको मथ डालनेवाले भीमसेन, अर्जुन और महानुभाव नकुल-सहदेवने भिक्षा लाकर युधिष्ठिरको निवेदन की। यह सुनकर संदेहमें पड़े हुए द्रुपदने भी उनसे पूछा—

कथं जानीम भवतः क्षत्रियान् ब्राह्मणानुत।
(१।१९४।२

जहाँ इस प्रकरणसे कर्मसे वर्णव्यवस्था हटती है, वहाँ द्रौपदीको 'भिक्षा' शब्दसे कहनेपर भी प्रकाश पड़ता है।

जो यह कहा जाता है कि—'द्रुपद अर्जुनको ही द्रौपदीको देना चाहता था, यही जानकर युधिष्ठिरने लक्ष्यवेध नहीं किया, नहीं तो, वह भी समर्थ था और बड़ा भाई होनेसे अधिकारी भी था, सो यह बात भी ठीक नहीं प्रतीत होती, प्रत्युत पूर्वपक्षसे उपस्थापित पद्यसे भी विरुद्ध है। 'महाभारतमें यह संकेत ही नहीं दिया गया कि युधिष्ठिर आदि इस विषयमें द्रुपदकी अभिलाषा जानते थे'—

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः॥
(१। १८४। ८)

इस पद्यके चौथे पादमें तो यह बताया है कि—द्रुपद अपनी उक्त अभिलाषाको किसीके आगे प्रकट नहीं करते थे। यही बात—

अयं हि कामो द्रुपदस्य राज्ञो
हृदि स्थितो नित्यमनिन्दिताङ्गाः।
यदर्जुनो वै पृथुदीर्घबाहु-
र्धर्मेण विन्देत सुतां ममैताम्॥
(१। १९२। १९)

इस पद्यमें भी 'हृदि स्थितः' इस पदसे अप्रकट, द्रुपदके हृदयस्थित मनोरथको युधिष्ठिर कैसे जान गये, कर्ण आदि क्यों न जान सके—इस प्रकार यह पद्य उद्धरण करनेवालोंके ही पक्षको ही काट रहा है।

इधर युधिष्ठिरके लिये 'समर्थ' यह पद भी महाभारतसे विरुद्ध है। युधिष्ठिरने जो कि लक्ष्यवेध नहीं किया, उसमें कारण उसका असामर्थ्य ही था। इसलिये श्रीद्रोणाचार्यने भी वैसी सामर्थ्य न होनेसे युधिष्ठिरको इस परीक्षामें अनुत्तीर्ण कर दिया था। जैसे कि—

नैतच्छक्यं त्वया वेद्धुं लक्ष्यमित्येव कुत्सयन्।
(१३१। ७७)।

अर्जुनने जो कि इसमें साहस किया था, उसका कारण उसकी सामर्थ्य थी—यह द्रोणाचार्यकी परीक्षामें १३५ अध्यायमें स्पष्ट है, इस कारण अर्जुनने ही लक्ष्यवेध किया था।

यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्रै
राधेयदुर्योधनशल्यशाल्वैः।
तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः
कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात्॥
(१। १८७। १९)

इस प्रकार जिस धनुषको कर्ण तथा दुर्योधनादि डोरीसे नहीं जोड़ सके, तब उनसे न्यूनशक्तिवाले युधिष्ठिरकी भला उस लक्ष्यभेदमें क्या शक्ति थी?

इधर यह भी जानना चाहिये कि यदि द्रौपदीकी पञ्चपतिकी कथा कल्पनामात्र या असत्य होती, तो असत्यका मूल स्थिर नहीं हुआ करता। उसके लिये 'महाभारत' या अन्य ग्रन्थमें कोई संकेत होता, अथवा कहीं असङ्गति पड़ती, पर कहीं भी असंगति नहीं दीखती। 'प्रत्युत द्रौपदीका पञ्चपतित्व अन्य प्रकरणोंमें कई बार आवृत्ति किया गया है। इस कारण यहाँ अवैयासिकता भी नहीं है। तात्पर्यनिर्णायक लिङ्गोंमें उपक्रम, उपसंहार तथा अभ्यास आदि मुख्य हुआ करते हैं, अभ्यासका अर्थ है पुनः-पुनः आवृत्ति। तो द्रौपदीका पञ्चपतित्व महाभारतमें बहुत बार आवृत्त हुआ है। उसके विवाहके उपक्रममें उसका पञ्चपतित्व बतलाया ही जा चुका है, अब उपसंहारमें भी उसका संकेत देखना चाहिये। (क) महाप्रस्थानमें जब पाण्डव हिमालयकी ओर गये, तब मार्गमें सबसे पूर्व द्रौपदी गिरी। भीमसेनने उसका कारण पूछा '(महाप्रस्थानिकपर्व २। ३–५)। तब युधिष्ठिरने बताया—

पक्षपातो महानस्या विशेषेण धनंजये।
तस्यैतत्फलमद्यैषा भुङ्क्ते पुरुषसत्तम॥
(महा० २। ६)

इसका पक्षपात अर्जुनमें अधिक था—इसलिये गिरी है। यहाँ द्रौपदीका पञ्चपतित्व स्पष्ट है। यदि अर्जुन ही एकमात्र उसका पति होता, पाँचों पाण्डव नहीं, तब उसका अर्जुनमें पक्षपात उचित ही था। पाँचोंकी पत्नी होनेपर तो उसका एकके साथ पक्षपात अनुचित होनेसे गिरना सोपपत्तिक है। तब द्रौपदीका पाँचोंकी पत्नी होना महाभारतके तात्पर्यका विषय सिद्ध हुआ।

इस प्रकार जहाँ उपक्रम-उपसंहारमें उसका पञ्चपतित्व स्पष्ट है, वैसे ही अन्य प्रकरणोंमें भी उसकी बहुत आवृत्ति हुई है। दिङ्मात्र प्रदर्शन किया जाता है। (ख) नारदजीने पाँचों पाण्डवोंको कहा था—

पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तथा नीतिर्विधीयताम्॥
(आदिपर्व २०७। १८)

'यह यशस्विनी पाञ्चाली आप पाँचोंकी एक पत्नी है, जिस प्रकार आपलोगोंमें परस्पर भेद—फूट न हो जाय, वैसी नीति कर लें।' यदि यह पाँचोंकी पत्नी न होती, तो नारदजीका यह कथन व्यर्थ था। (ग)

तै (पाण्डवैः) लब्धा द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह।
सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥
(सभापर्व ४८ । ४)

'उन पाँचोंने पत्नीरूपमें द्रौपदीको प्राप्त किया है' यह शकुनिने दुर्योधनको पाण्डवोंकी स्त्री द्रौपदीके लिये कहा है।

(घ) द्यूतक्रीड़ाके समय शकुनिने युधिष्ठिरको कहा—

अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजितः।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽस्मानं पुनर्जय ॥
(२ । ६५ । ३२)

यदि द्रौपदी एकमात्र अर्जुनकी पत्नी होती तो शकुनि युधिष्ठिरको द्रौपदीका दाँव लगानेके लिये न कह सकता। युधिष्ठिरके भी उसके पति होनेसे वह उससे स्वेच्छा व्यवहार कर सकता है, तब उसका पञ्चपतित्व स्पष्ट हो गया। महाभारतकी यह प्रसिद्ध घटना कभी आलङ्कारिक नहीं हो सकती।

(ङ) द्रौपदीने जुएमें हारकर दुर्योधनके दास्यसे अपने-आपको छुड़ानेके लिये भीष्म आदिसे पूछा कि 'जब युधिष्ठिर द्यूतमें पहले अपने-आपको हार गये थे, तब उनको मुझे दाँवपर लगानेका क्या अधिकार था ? इसमें आप व्यवस्था दीजिये।' तब श्रीभीष्मने उत्तर दिया कि—

न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं
शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं
स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥
(२ । ६७ । ४७)

'पति स्वयं पराजित होकर स्त्रीका स्वामी न होनेसे उसे दावमें नहीं लगा सकता, अथवा स्त्री सभी अवस्थाओंमें भर्ताके अधीन होती है और भर्ता स्वयं पराजित होकर भी स्त्रीमें स्वामित्व होनेसे उसे दाव लगा सकता है—यह मैं धर्मकी सूक्ष्मतावश व्यवस्थापित नहीं कर सकता।' इस भीष्म-वचनसे भी द्रौपदी युधिष्ठिरकी भी स्त्री सिद्ध होती है। तब एकमात्र अर्जुन ही उसका पति 'महाभारत' को इष्ट नहीं।

(च)—

तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा
भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत्।
सा पाण्डवान् कोपपरीतदेहान्
संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥
(२ । ६७ । ४२)

वैशम्पायनके इस वचनमें क्रोधमें भर[illegible] अपने पतियोंकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखा'.....। 'सा पाण्डवान्' इस पदसे द्रौपदी पाँचोंकी पत्नी ग्रन्थकारको [illegible] सिद्ध होती है।

(छ)—

साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता।
जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन (युधिष्ठिरेण) कृतः पणः ॥
(२ । ६८ । २३)

एतत् सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम्।
(२।६८।२४)

विकर्णके इस वचनसे द्रौपदी सब पाण्डवोंकी समान पत्नी सिद्ध होती है।

(ज) कर्णने कहा था—

एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन।
इयं (द्रौपदी) त्वनेक (पञ्च) वशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥
(२ । ६८ । ३५)
अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः।
(२ । ६८ । ३६)

यदि द्रौपदी एकमात्र अर्जुनकी पत्नी होती, पाँचोंकी नहीं, तो कर्णको ऐसी निन्दा करनेका साहस न होता।

(झ) दुर्योधनने द्रौपदीको कहा था—

तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे
भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि
वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् ॥
(२ । ७० । ३)
न विब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथावत्
पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान्।
(२ । ७० । ६)

यहाँपर तृतीय पद्यमें दुर्योधन द्रौपदीको सम्बोधित करके 'पति' शब्दका सम्बन्ध युधिष्ठिरके साथ करके युधिष्ठिरको उसका ज्येष्ठ पति बताता है और छठे पद्यमें 'ते पतीन्' इससे उसे पाँचोंकी पत्नी बता रहा है। इससे भी प्रकृतकी पुष्टि हो रही है।

(ञ) द्रौपदीने (२ । ७१ । २९-३० पद्यमें) अपनेमें युधिष्ठिरसे उत्पन्न हुए प्रतिविन्ध्य नामक पुत्रकी दासपुत्रता हटानेके लिये धृतराष्ट्रसे वर माँगा, फिर (७१ । ३२ पद्यमें) अवशिष्ट चार पाण्डवोंके दास्य हटानेके लिये दूसरा वर माँगा।

...हो इस प्रकरण है कि वह केवल अर्जुनकी स्त्री नहीं थी, अपितु ...पदीको भीम आदि सबकी पत्नी थी।

...(ट)—

महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः
कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय।
अकार्षीद् वै सुकृतं नेह किंचित्
क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः॥
(२।७७।१०)

यहाँ द्रौपदीको दुःशासनने पाँचों पाण्डवोंकी पत्नी बताया है।

(ठ)—

कुन्ती वनवासके गमनके समय द्रौपदीको उपदेश देती है—

वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत्।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा॥
(२।७९।४)

न त्वां सन्देष्टुमर्हामि भर्तॄन् प्रति शुचिस्मिते।

यहाँके 'भर्तॄन्' इस बहुवचनसे द्रौपदी पाँचोंकी समान पत्नी सिद्ध होती है।

इस प्रकार 'महाभारतमें अन्यत्र भी पुनः-पुनः आवृत्ति-रूप अभ्याससे तथा उपक्रम-उपसंहार आदिसे स्पष्ट हो जाता है कि महाभारतकारको द्रौपदी पाँचों पाण्डवोंकी वास्तविक ही पत्नी अभिप्रेत है, एकमात्र अर्जुनकी नहीं। जब पूर्वपक्षानुसार युधिष्ठिर आदि पाँचों प्रत्येकमें पञ्चभावसे थे, तब सबकी गृह-लक्ष्मी द्रौपदी भी उनकी वास्तविक पत्नी और वे भी सब उसके वास्तविक पति सिद्ध हुए, अन्यथा यदि पूर्वपक्षप्रोक्त व्युत्पत्तिके अनुसार अर्जुन ही पञ्चपाण्डवात्मक था, तो अर्जुनसे अतिरिक्त चार पाण्डवोंको भी आलङ्कारिक मानना पड़ेगा, पर पूर्वपक्षीको भी यह इष्ट नहीं। वैसे ही वह एक अर्जुनकी ही स्त्री थी, दूसरोंसे केवल 'पालनीय' थी, दूसरे उसके संरक्षक थे, वास्तविक पति नहीं, यह बात सिद्ध न हो सकी। इस कारण प्रत्येकसे द्रौपदीके पाँच पुत्र उत्पन्न होनेका वर्णन भी काल्पनिक सिद्ध नहीं हो सका (१।२२३।७८–८०–८६)।

इसके अतिरिक्त उस कालके लोग 'नैकस्यै बहवः सह-पतयः' इस सिद्धान्तके भी जाननेवाले थे। यह सिद्धान्त उस समय अपरिचित नहीं था। तभी द्रुपद आदिने स्वयं भी कहा था।

एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन।
नैकस्या बहवः पुंसः।

(यह भी अपाणिनीय प्रयोग है।)

श्रूयन्ते पतयः क्वचित्। (१।१९४।२७)
लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धर्मविच्छुचिः।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात् ते बुद्धिरीदृशी॥
(१।१९४।२८)

—तथापि धर्मभीरु पाण्डवोंका उसके अनुसरणमें एक कारण है, वह है—

आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।
(रघुवंश १४।४६)

इस अर्थको बतानेवाले 'मातृदेवो भव' इस प्रबल वैदिक आदर्शका पालन। दूसरा कारण यह है कि—पाँचों पाण्डव पूर्वजन्ममें एक थे, तो वहाँ प्रेरणा भी वैसी होनी थी।

जो यह कहा जाता है कि—'शेष सब रावणके दस सिरों-की तरह कुम्भकर्णकी छः मासकी नींदकी तरह रूपक वा काल्पनिक है' इसपर यह जानना चाहिये कि रावणके दस सिर भी वास्तविक थे, तथा कुम्भकर्णकी छः मासकी नींद भी वास्तविक थी, इसपर अन्य किसी निबन्धोंमें विचार होगा। तब द्रौपदीको साध्वी अथवा एक पतिका सिद्ध करनेके लिये बताया गया उपाय कल्पित ही सिद्ध हुआ है, उसमें किसी प्राचीन या अर्वाचीनकी सहमति नहीं। जो कि नियोगसे उत्पन्न होनेसे 'न कुलमस्य' इस व्युत्पत्तिसे अर्जुनको 'नकुल' माना जाता है, यह भी संगत नहीं जान पड़ता। क्या नकुल-का यह नाम इसी कारण था? नियोगसे उत्पन्न भी कुलरहित नहीं हुआ करते। क्या एकमात्र नकुल ही नियोगोत्पन्न थे। यदि सभी, तो सभीको नकुल—कुलरहित क्यों नहीं कहा गया? क्यों क्षत्रिय वा कुरु माना गया। वस्तुतः यहाँ नियोग ही साध्य है, क्योंकि धर्म, इन्द्र, वायु आदि मनुष्य नहीं थे।

अब हम महाभारतके अभिप्रायानुसार द्रौपदीको एक पतिका एवं साध्वी सिद्ध करनेका प्रयत्न करते हैं, जिसमें न तो कहीं प्रक्षिप्तता बतानी पड़ती है, न आलङ्कारिकता ही और न कहीं असङ्गति ही पड़ती है। विज्ञ पाठकगण अब इस प्रकारकी भी परीक्षा करें।

पूर्वपक्षकी भाँति द्रुपदका भी यही आक्षेप था कि—

'अधर्मोऽयं मम मतो विरुद्धो लोकवेदयोः।
न ह्येका विद्यते पत्नी बहूनां द्विजसत्तम॥
(१९८।७-८-९)

राजा द्रुपद योगविद्याके तत्त्वज्ञ ही नहीं थे, कुन्ती भी नहीं थी। वहाँपर योगिराज श्रीमान् व्यासजी उपस्थित हो

गये। उन्होंने कुन्तीसे कहा कि—तुमने जो सब पुत्रोंको अज्ञानसे कहा था कि—जो वस्तु तुम लाये हो, उसको 'समेत्य भुङ्क्त' विभक्त करके इकट्ठे उपभुक्त करो, तब एकके साथ द्रौपदीके विवाहमें तुम्हारा कथन अनृत—असत्य हो जायगा और अनृतमें दोष होगा। पर तुम डरो नहीं। तुम अनृतभाषणके दोषसे मुक्त हो जाओगी। क्योंकि—द्रौपदीके साथ पाँच पाण्डवोंका विवाह अनिवार्य है। (१।९५।१९-२०)

इस विषयमें विज्ञ पाठक यह याद रखें कि—

> आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।
> कुर्याद् योगी बलं प्राप्य तैश्च सर्वैर्महीं चरेत्।
> प्राप्नुयाद् विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्।
> संक्षिपेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव ॥

यह पद्य वेदान्तदर्शन (१।३।२७) शाङ्करभाष्यमें तथा अन्य ग्रन्थोंमें भी मिलता है। मार्कण्डेयपुराणमें भी कहा है—

> योगीश्वराः शरीराणि कुर्वन्ति बहुलान्यपि। (५।२५)

'योगदर्शन' में भी कहा है—

> प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकचित्तम् एकमनेकेषाम्। (४।५)

इन प्रमाणोंमें योगीकी अनेक शरीरोंके बनानेमें तथा उनसे अनेक कार्य करनेमें शक्ति बतायी गयी है। इसके अनुसार कोई पुरुष ब्रह्मचर्याश्रममें पूर्व-प्रारब्धके योगसे योग-सिद्धिको प्राप्त करके अपने एक शरीरके अनेक शरीर बना ले और वह एक उत्तम कन्याके साथ विवाह कर ले, तो उस एकके अनेक शरीरोंके साथ एक कन्याके विवाह करनेपर वह विवाह एक पुरुषके साथ ही सम्पन्न हुआ माना जायगा। वे आपाततः देखनेसे तो अनेक पुरुष हैं, परंतु वास्तवमें वह एक ही पुरुष है। आशा है योगसिद्धि माननेवाले आस्तिकों-को इसमें कोई भी आक्षेपका अवसर न होगा।

आर्य-समाजके स्वामी श्रीदयानन्दजीके लिये उनके जीवनचरित्रमें एक घटना मिलती है। श्रीमद्दयानन्दप्रकाशके अन्तिम प्रकरणमें लिखा है—'उन्हीं श्रीगुरुदत्तने क्या देखा कि एक ओर तो परम धामको पधारनेके लिये प्रभु परमहंस पलंगपर बैठे प्रार्थना कर रहे हैं, और दूसरी ओर वे व्याख्यान देनेके वेशमें सुसज्जित उसी कमरेकी छतके साथ लगे बैठे हैं। इस आत्मयोगके प्रत्यक्ष प्रमाणको पाकर पण्डित महाशय गुरुदत्तका चित्तस्फटिक आस्तिक भावोंकी प्रभासे चमचमा उठा (पृ० ५३०)। जब आजकलके अशक्तिमय समयमें भी यह योगशक्ति मानी जाती है, तो प्राचीनकालके शक्तिमय समयमें योगप्रक्रियाकी उन्नति न हो, ऐसा नहीं माना जा सकता।

यदि एकके अनेक अंश उससे अभिन्न न माने जायँ, तो हमारे एक शरीरमें भी हाथ-पाँव आदि अनेकों अंग हैं, तब उन सबके साथ हो रहा हुआ एक क[illegible] अनेकोंके साथ हुआ माना जाय। परंतु ऐसा नहीं [illegible] अनुसार श्रीवेदव्यासने 'महाभारत' के आदिपर्वमें १९ [illegible] में पञ्च-इन्द्रोपाख्यान सुनाया है, जिसका अभिप्राय यह है कि एक ही इन्द्रदेवने पाँच पाण्डवोंका रूप धारण किया है। उसी इन्द्रकी दिव्यलक्ष्मी दूसरे जन्ममें राजा द्रुपदके घर द्रौपदीके रूपमें प्रकट हुई है। इन्द्रदेव भी पाँच रूपोंमें प्रकट हुए हैं। जब योगी मनुष्य भी पूर्वकथित प्रमाणसे तथा 'योगी खलु ऋद्धौ अणिमादिसिद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा (इन्द्रियाणां विशिष्टसामर्थ्यवान्) निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि' (३।२।१९) इस 'न्यायदर्शन' के प्रमाणसे बहुत-से रूप और बहुतसे शरीर बना सकते हैं, तो स्वभावसिद्ध योगी देवताओंके लिये तो क्या कहना ?

यही बात ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या करते हुए श्रीस्वामी शंकराचार्यचरणोंने भी कही है—'आत्मनो वै शरीराणि बहूनि भरतर्षभ।'…'इत्येवंजातीयका स्मृतिरपि प्राप्ताणिमाद्यैश्वर्याणां योगिनामपि युगपदनेकशरीरयोगं दर्शयति, किमु वक्तव्यम् आजन्मसिद्धानां देवानाम्। अनेकरूपप्रतिपत्तिसम्भवाच्च एकैका देवता बहुभी रूपैरात्मानं प्रविभज्य'…। (१।३।२७)।

इस प्रकार इन्द्रदेवताके विषयमें उसके द्वारा बहुत शरीर धारण करनेके सम्बन्धमें भी जान लेना चाहिये। इसीलिये 'महाभाष्य' में भी इन्द्रदेवताके लिये कहा गया है—

> एक इन्द्रो नैकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत् सर्वत्र भवति (१।२।६४)

अर्थात् एक ही इन्द्र सैकड़ों यज्ञोंमें बुलाया जाता हुआ एक दम सर्वत्र होता है। इस प्रकार वेदमें भी इन्द्रके अनेक शरीर धारण करनेका वर्णन आता है। जैसे कि—

> 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' (ऋ० ६।४७।१८)
> 'रूपं रूपं मघवा इन्द्रः, बोभवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परि स्वाम्' (ऋ० ३।५३।८)

इस प्रकार निरुक्तमें देवताके बहुत रूपधारण दिखलाये हैं—

> 'महाभाग्याद् देवतायाः' (७।४।८)

भाग्य अणिमा आदि ऐश्वर्योंका नाम है।

इस प्रकार एक ही इन्द्र पाँच पाण्डवोंके रूपमें था। इन्द्रका अंश अर्जुन है, यह तो सुप्रसिद्ध ही है। उसके इधर दो बड़े भाई हैं, इधर दो छोटे भाई। तो इन्द्र ही युद्धमें स्थिर होनेसे 'युधिष्ठिर' नामवाला हुआ। शत्रुओंके लिये भयानक होनेसे 'भीम' वा भयानक सेनावाला होनेसे 'भीमसेन' हुआ। मनुष्यकुलवाला न होनेसे 'नकुल' हुआ।

[illegible] अस्मान् अवन्तु देवाः (यजुः ३३ । ५०)

[illegible] इस प्रकार [illegible] [illegible]पदीको 'भि[illegible] प्रकार देवोंके सहित होनेसे 'सहदेव' नामका हुआ । [illegible]रका वह 'धर्म' रूपसे, भीमका 'वायुरूपसे', नकुल-[illegible] सहदेवका 'अश्विनीकुमार' रूपसे उत्पादक हुआ । इसीलिये वेदमें कहा है—

इन्द्रः सर्वा देवताः (शतपथ० ३ । ४ । २ । २)
'इन्द्रो वै सर्वे देवाः' (शत० १३ । २ । ७)

यहाँपर इन्द्रको सर्वदेवमय कहा है । इस प्रकार स्वर्गकी लक्ष्मी द्रौपदीरूपमें संसारमें प्रकट हुई । इस भाँति एक द्रौपदीका विवाह एक ही इन्द्रकी पाँच व्यक्तियोंसे जो हुआ, वह वास्तवमें एक ही इन्द्रसे हुआ । तब द्रौपदीके पातिव्रत्यमें अथवा पाण्डवोंकी धर्मप्राणतामें अथवा उनके चरित्रमें कोई भी त्रुटि नहीं पड़ती, क्योंकि पति वस्तुतः एक है ।

इसीलिये मार्कण्डेय पुराणमें भी—

कस्माच्च पाण्डुपुत्राणामेका सा द्रुपदात्मजा ।
पञ्चानां महिषी कृष्णा सुमहानत्र संशयः ॥
(४ । ३२)

पाँच पाण्डवोंकी एक ही रानी द्रौपदी कैसे हुई ? यह शङ्का करके वहाँ उत्तर दिलवाया गया है—

तेजोभागैस्ततो देवा अवतेरुर्दिवो महीम् ।
प्रजानामुपकारार्थं भूभारहरणाय च ॥
यदिन्द्रदेहजं तेजस्तन्मुमोच स्वयं वृषः ।
कुन्त्यां जातो महातेजास्ततो राजा युधिष्ठिरः ॥
बलं मुमोच पवनस्ततो भीमो व्यजायत ।
शक्रवीर्यार्पितश्चैव जज्ञे पार्थो धनंजयः ॥
उत्पन्नौ यमलौ माद्र्यां शक्ररूपौ महाद्युती ।
पञ्चधा भगवान् इत्थमवतीर्णः शतक्रतुः ॥
तस्योत्पन्ना महाभागा पत्नी कृष्णा हुताशनात् ।
शक्रस्यैकस्य सा पत्नी कृष्णा नान्यस्य कस्यचित् ।
योगीश्वराः शरीराणि कुर्वन्ति बहुलान्यपि ॥
(५ । २५)

इसका यह भाव है कि योगीश्वर अपने शरीर बहुत बना लिया करते हैं । इन्द्रने भी अपने एक शरीरके कई अंश बना लिये; जिन्हें धर्म, वायु तथा स्वयं इन्द्रने कुन्तीमें तथा अश्विनीकुमारोंने माद्रीमें रखकर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल-सहदेवको उत्पन्न किया ।

बात स्पष्ट हो गयी, तब 'नैकस्यै बहवः सहपतयः ।'
(गोपथ० २ । ३ । २०)

यह विरोध सिद्ध नहीं हुआ; क्योंकि वास्तवमें पति एक ही था । व्यावहारिक बाहरी भिन्नतामें उन्होंने जनताके हितार्थ बाहरी नियमोंका भी यथावत् पालन किया । इस प्रकार उक्त विषयमें ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कहा है—

पञ्चेन्द्राश्च हरेरंशा भविष्यन्ति प्रियास्तव ।
(१५१ । १)

स्वर्गलक्ष्मीर्महेन्द्राणां सा च पश्चाद् भविष्यति ॥ ४ ॥
अर्जुनाय ददौ राजा कन्यायाश्च स्वयंवरे ।
पप्रच्छ मातरं वीरो वस्तु प्राप्तं मयाधुना ॥ ५ ॥
तमुवाच स्वयं माता गृहाण भ्रातृभिः सह ।
शम्भोर्वरेण पूर्वं च परत्र मातुराज्ञया ॥ ६ ॥
द्रौपद्याः स्वामिनस्तेन हेतुना पञ्च पाण्डवाः ।
चतुर्दशानामिन्द्राणां पञ्चेन्द्राः पञ्च पाण्डवाः ॥
(श्रीकृष्णखण्ड ११५ । ७)

यहाँपर बताया गया है कि इन्द्रके चौदह भेद होते हैं, उनमें पाँच इन्द्रके रूप पाँच पाण्डव बने, स्वर्गकी लक्ष्मी द्रौपदी बनी । पूर्वजन्ममें महादेवके वरके कारण इस जन्ममें माताकी आज्ञासे द्रौपदीके पाँच पाण्डव पति बने । वस्तुतः इन्द्रदेव एक ही थे, द्रौपदी उन्हीं इन्द्रदेवकी स्वर्गकी लक्ष्मी थी । जैसे एक सूर्य मासोंकी उपाधिके भेदसे बारहकी संख्याका माना जाता है, वैसे ही एक इन्द्र चौदह प्रकारका माना जाता है । जैसे एकके अनेक अंश भिन्न-भिन्न नहीं माने जाते, वैसे पाण्डव भी कथनमात्रमें पाँच थे, वस्तुतः एक ही इन्द्र था । इससे द्रौपदी तथा पाण्डवोंके चरित्रमें कोई त्रुटि नहीं आती ।

फलतः द्रौपदीको एक पतिका तथा साध्वी सिद्ध करनेका यही वास्तविक प्रकार है । इस प्रकारमें न कहीं प्रक्षिप्तता माननी पड़ती है, न कहीं कोई असङ्गति पड़ती है, न यहाँ बलात् कोई कृत्रिमता करनी पड़ती है । पूर्वपक्षोक्त प्रकारमें तो बहुत स्थलोंमें असंगति जान पड़ती है, बहुत स्थलोंमें 'महाभारत' के इतिहासका रूप परिवर्तित करना पड़ जाता है । जहाँ [illegible] निर्मूलता हो जाती है । कहीं उस पक्षमें प्रक्षिप्तता वा स्वेच्छामात्रसे आलङ्कारिकता माननी पड़ जाती है । प्रत्युत उस पक्षको स्वीकार करनेमें उसके सिद्ध करनेके लिये दिये गये महाभारतीय पद्य भी उस पक्षसे स्वयं विद्रोह करने लग जाते हैं, तब हमें निर्मूल पक्षके आश्रयणकी क्या आवश्यकता है ? द्रौपदीके बाहर देखनेमें पाँच पति थे । पर वस्तुतः वह पाँच रूप बने हुए एक ही इन्द्रकी पत्नी थी । इस विषयमें पाश्चात्त्य संस्कृति प्रभावित पौरस्त्यों तथा शुद्ध पौरस्त्योंके अभिप्रायमें तारतम्यका विश्लेषण अपनी सूक्ष्म बुद्धिद्वारा कर लिया होगा ।